

मोक्षशास्त्र प्रवचन

पंचम भाग

प्रवक्ता □ अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
“सहजानन्द” महाराज

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।।६।।

तत्त्वोंके अधिगमके उपायभूत प्रमाणके विवरणका प्रारम्भ मोक्षशास्त्रका यह ६वाँ सूत्र है, इसमें अन्वयव्यतिरेकात्मक ज्ञानका परिचय कराया है। ज्ञान ५ प्रकारके होते हैं १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान। यह सूत्र यहाँ क्यों रखा गया? इसका प्रसंग क्या? तो जैसे बताया था कि मोक्षशास्त्रका प्रथम अध्याय वस्तुस्वरूप जाननेके उपायका वर्णन करने वाला है। प्रासंगिक बात वर्तमानमें तीन चार सूत्रोंमें कहकर आगे सभी उनके जाननेके उपायोंको बताने वाला वर्णन है। कैसे उन तत्त्वोंका न्यास होता है। कैसे उनका अधिगम होता है? तो बताया गया था कि प्रमाण और नयोंसे तत्त्वका जानना होता है। तो प्रमाण क्या चीज है, उसके विवरणमें कुछ सूत्र आर्येंगे और अन्तमें नय क्या चीज है, इसे वर्णनमें सूत्र आर्येंगे। इस तरह वस्तुके जाननेका उपाय वर्णन करनेमें प्रथम अध्याय समाप्त हो गया। उसके बाद उन तत्त्वोंका वर्णन चलेगा। यद्यपि सामान्य तौरसे ऐसा कह देते हैं कि पहले चार अध्यायोंमें जीव तत्त्वका वर्णन है, पर जो प्रस्तावित किए गए ७ तत्त्व हैं उनमें जीव तत्त्वका वर्णन द्वितीय अध्यायमें शुरू होता है। जहाँ जीवके स्वतत्त्व बताये गए वहाँ पहले अध्यायमें तत्त्वके जाननेके जो उपाय बताये गये हैं वह उपाय हैं ज्ञानात्मक और ज्ञान है आत्माका तत्त्व। इसलिए प्रथम अध्यायको भी जीव तत्त्वके वर्णनमें शामिल कर लिया गया। पर उसमें विश्लेषण करें तो पहला अध्याय तो प्ररूपित है अधिगमके उपायका वर्णन करने में, और दूसरे अध्यायसे है प्रस्तावित जीव तत्त्वका वर्णन। तो प्रमाण क्या चीज है, उसका वर्णन किया जा रहा है। प्रमाण ज्ञान होता है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। वैसे लोकमें कहते हैं, ऐसा कि कब्जा भी प्रमाण है, गवाह भी प्रमाण है, दस्तावेज भी प्रमाण है। जैसे कागज होता है, रजिस्ट्री किया हुआ तो उसे अदालतमें पेश कर देते हैं कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है, तो उन्होंने कागज पेश कर दिया कि यह प्रमाण है। सो कई प्रकारसे लोग कहते, लेकिन उस कागजका अर्थ क्या? उस कागजमें जो लिखा है उससे जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण बना। ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। और उसका कारण बताया है न्यायशास्त्रमें कि हितका लाभ और अहितका

परिहार करनेमें समर्थ चूंकि ज्ञान ही है, अतएव ज्ञान प्रमाण है। और उस ज्ञानकी व्याख्याकी है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला हो वह कहलाता है प्रमाण अर्थात् ज्ञान। तो प्रमाणका वर्णन, ज्ञानका वर्णन, वह एक ही चीज होती है।

शक्तिव्यक्त्यात्मक ज्ञानकी सिद्धि यहाँ इस सूत्रके कहनेसे एक और दार्शनिक बात स्पष्ट होती है कि कुछ लोग मानते हैं कि हाँ ज्ञान ही तत्त्व है। और ऐसा ज्ञान, जो ध्रुव है, अपरिणामी है, सर्वव्यापक है, सर्वरूप है, ऐसा ज्ञानब्रह्म वह ही एक तत्त्व है। उन्होंने ज्ञानकी दशा, ज्ञानकी पर्याय, ज्ञानकी व्यक्ति स्वीकार नहीं की, ऐसे ज्ञानाद्वैती, ब्रह्माद्वैती, सम्वेदनाद्वैती, प्रतिभासाद्वैती आदि अनेक दार्शनिक हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान अन्वयरूप ही होता है। अगर सोचा जाये कि जगत्में कोई भी तत्त्व ऐसा है क्या जो अन्वयरूप हो? अर्थात् जो केवल द्रव्यमात्र हो, अथवा केवल एक स्वभाव मात्र हो। पर्याय कुछ न हो, परिणति कुछ न हो, व्यक्ति कुछ न हो, ऐसा जगत् में कोई सत् नहीं होता। जो भी सत् है वह द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। तो अन्वयमात्र सत् नहीं, किन्तु अन्वयतिरेकात्मक सत् होता है। व्यतिरेक मायने पर्याय, अन्वय मायने द्रव्यत्व। देखो उन दार्शनिकों नेकाम तो करना चाहा बहुत भला, जिसको जैन शासन भी एक नयसे समर्थित करता है। आखिर जब कुछ सोचा, तत्त्वका परिचय किया, बहुत-सी बातें जानीं तो जाननेके बाद अन्तमें एक यह प्रश्न हुआ, समस्या आयी कि आखिर अपना हित किसमें है? किसको शरण मानें, कहाँ दृष्टि दें कि हमारा भला हो? जगत्में वे दिखने वाले पदार्थ विनाशीक हैं, भिन्न हैं, मायारूप हैं, छाया हैं, इनपर दृष्टि देनेसे क्या प्रभाव होता है? देखिये प्रथम तो यह उपयोग ही अस्थिर है। विषय वासनाओंसे संस्कृत होनेसे यह उपयोग अस्थिर हो गया और फिर यह उपयोग करे अस्थिरको विषयभूत तो विषय भी अस्थिर, उपयोग भी अस्थिर, ऐसेमें गुजारा कैसे चलेगा? तो पहले यह बात निमित्तकी कहेंगे, विषय तो स्थिर हों। एक ओरसे तो बेपरवाही हो, कि लो अब विषय क्या है? स्थिर विषय है, अन्वयरूप विषय है। व्यतिरेक तो सब अस्थिर होता। अन्वयरूप द्रव्यत्व है इसमें भी अनेक धारणायें चलीं। किसीने सत् ब्रह्म कहा, पर सत् स्व भी है, पर भी है, अनेक सब कुछ है। तो जानने वाला तो यह उपयोग हो और विषय बने कोई पर तो उसमें भी एक रास्ता नहीं हो सकता। कोई निजका अन्वय होना चाहिए, तो वह मिला क्या? ज्ञानस्वभाव। देखिये आत्मा चाहने वालेको इस सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभावका शरण गहना चाहिए। इसका आलम्बन, इसका आश्रय, इसकी मग्नता होनी चाहिए। इतने प्रयोजनको देखते हों तो ऐसा लगता है कि उन दार्शनिकोंने बहुत अच्छा सोचा। एक अन्वयमात्र ज्ञान है, ऐसा ही वह ब्रह्म है, लेकिन वस्तु सत् किस प्रकार होता है? उसके लिये स्पष्ट कथन है “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

प्रतिक्षण पर्यायकी अनिवारितता देखो गुण तो भेद करके कल्पनाओं द्वारा समझा जायेगा, अतएव कोई बहुत ठीक-ठीक जाननेको चले तो गुणकी तो उपेक्षाकी जा सकती है, क्योंकि वहाँ तो स्वभावको भेदकर स्वभावमें ही भेद डालकर गुण समझा जाता है। जैसे कि आत्माका स्वभाव है

चैतन्य। अब उस चैतन्यस्वरूपको कैसे जानें? तो कहते हैं कि देखो जहाँ ज्ञान है, जहाँ दर्शन है सामान्य प्रतिभास, विशेष प्रतिभास अथवा श्रद्धान है, प्रतीति है, रुचि है अनेक बातें कहकर समझाया जा सकता है। तो गुणोंको तो हम स्वभावके समझनेके लिए उन भेदोंको समझते हैं, तो एक बार चाहे गुणकी बात न कहें, एक अभेद स्वभावको ही मानें तोकाम चलेगा। परन्तु पर्यायको न मानें तो जैसे स्वभाव न माननेसे वस्तु नहीं रहती ऐसे ही पर्याय न माननेसे वस्तु नहीं रहती। पर्यायसे मतलब यहाँ स्वभावकी तरह एक प्रति समयकी अखण्ड पर्याय। पर्यायमें भी भेद किया जाता है, तो गुण भेदकी तरह भिन्न-भिन्न पर्यायें जाननेमें आती हैं। जैसे ये मतिज्ञानादिक हैं, ये क्रोधाधिक हैं, अविकारी या विकारीपर्याय ये सब जाने जाते हैं। तो स्वभावमें भेद डालकर जैसे अखण्ड स्वभावका परिचय हम गुणों द्वारा करते हैं, ऐसे ही पर्यायमें भेद डालकर, कुछ भिन्न-भिन्न पर्यायों द्वारा जितने गुण माने समझे हैं उतनी ही उनकी परिणतियाँ बताकर हम उस अखण्ड पर्यायको समझना चाहते हैं, जैसे वस्तु अखंड है, वैसे ही उसकी प्रति समय में कोई न कोई परिणति है वह भी अवक्तव्य है अखंड है, जब जो है तब वह उसे टाल नहीं सकता। कोई परिणति तो होती ही है प्रति समय, अन्यथा द्रव्यत्व न रहेगा। अब वह परिणति वास्तवमें कैसी है, इसको बतानेके लिए कोई शब्द नहीं है। तो जैसे व्यवहारसे हम गुणभेद करके स्वभावकी पहचान करते हैं ऐसे ही पर्याय देख करके हम एक अखण्ड पर्यायको भी समझते हैं। मतलब यह है कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं। अब इसमें से कोई केवल द्रव्यअंशको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह जैसे एक एकान्त है ऐसे ही कोई पर्याय मात्रको ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह एक एकान्त है। बस द्रव्य और पर्याय इनके ही भूलके विस्तारमें अनेक दार्शनिकोंकी उत्पत्ति हुई है। तो यह सूत्र उस विवादको सुलझा देता है। ज्ञान केवल अन्वयरूप नहीं, ज्ञान केवल व्यतिरेकरूप नहीं। तो मतिज्ञान स्वतंत्र चीज हो, श्रुतज्ञान स्वतंत्र चीज हो आदिक ये सभी स्वतन्त्र हों सो नहीं और ज्ञान इन ५ से रहित मात्र एक अन्वयमात्र जिसकी परिणति नहीं, व्यक्ति नहीं, ऐसा हो, सो भी नहीं, यह ध्वनि निकल रही है मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् इस सूत्र से।

सूत्रमें निश्चय व्यवहारात्मक वर्णनकी झलक देखिये आचार्यदेवकी कृतियाँ प्रकृत्या ऐसी बनती हैं कि जिनके समयमें चाहे वे आचार्य खुद भी न सोचें कि इसमें हमें कोई मर्म रखना है, मगर जो सुलझा हुआ है, ज्ञानी पुरुष है, उसके वचन ऐसे ही सहज निकलते हैं कि जिसमें अनेक मर्म पड़े हुए हैं। देखो सूत्रोंमें निश्चय और व्यवहार दोनोंकी झलक आती जायेगी। जैसे कहा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' मोक्ष मार्ग निश्चय वचन है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि व्यवहारवचन है। कैसे? एक तो वह बहुवचन है और व्यवहारमें बहुत्व होता है और मोक्षमार्गः एकवचन है और एक एकत्वनिश्चयकी दृष्टिमें आता है। दूसरे, ये तीन हैं, यह एक है, निश्चयका विषय एक होता है। व्यवहारके विषय अनेक होते हैं, ऐसे सभी सूत्रोंमें और जितनी रचनाये हैं प्रत्येक कथनों में, प्रत्येक वाक्योंमें केवल निश्चय निश्चयकी ही बात न मिलेगी, केवल व्यवहार-व्यवहारकी

ही बात न मिलेगी। वह रचना ही ऐसी है कि ऐसा ही समन्वित हो जाता है कि वह समन्वय झलक जाये। जैसे तत्त्व ७ बताये 'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।' तो तत्त्व यह निश्चय वचन है और जीवाजीवादि व्यवहार वचन है, ये बहुवचनमें हैं। ये ७ हैं, तत्त्व एकवचन है, एक है, सामान्य है, तब अर्थ करना चाहिए ये ७ तत्त्व हैं। बहुवचन भी न बोलें कि ये ७ तत्त्व हैं और उनकी प्रयोजकता देखें भूतार्थनयसे अधिगत जो एकता है यह प्रयोजन है, यह स्वयं अपने आप प्रकट होता है। इस सूत्रमें भी देखो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ये ५ हैं। ज्ञानम् एक है, वह बहुवचन है, ज्ञान एकवचन है। ये ५ ज्ञान हैं। तो ज्ञान अन्वयरूप न हो तो ये ५ नहीं हो सकते। ये ५ परिणतियाँ न हों तो अन्वय वाला ज्ञान नहीं होता।

वस्तुकी अन्वयव्यतिरेकात्मकता एक दृष्टान्त लो, बालक जवान और बूढ़ा और एक मनुष्य, ये चार बातें समझो। तो मनुष्य तो है अन्वयरूप। जितने अंशके लिये दृष्टान्त दिया उतनेमें घटाना है। यहाँ मनुष्य अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढ़ा और यह व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढ़ा इन तीनमें कुछ न हो, ऐसा कोई मनुष्य कोई सामने ला सकेगा क्या? नहीं ला सकता। और मनुष्य न हो, केवल बालक ला दे, जवान ला दे या बूढ़ा ला दे तो मिल जायगा क्या? तो जैसे मनुष्य अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढ़ा व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढ़ा इस व्यतिरेकके बिना मनुष्य नहीं और मनुष्य अन्वयके बिना बालक, जवान, बूढ़ा ऐसा व्यतिरेक न मिलेगा। तो ऐसी समस्त वस्तुओंकी बात समझ लीजिए कि जितने भी सत् हैं, जो भी सत् हैं वे नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्युक्त हैं। इसीको कहा अन्वयव्यतिरेक। व्यतिरेकमें आया, उत्पाद, व्यय, अन्वयमें आया ध्रौव्य। तो यह निर्णय सबके विषयमें करें। व्यतिरेक बिना अन्वय नहीं, अन्वय बिना व्यतिरेक नहीं, लेकिन अपना एक प्रयोजन यह समझना है कि हम व्यतिरेकको सर्वस्व मान लें और व्यतिरेकको ही हम अपना लक्ष्य समझते रहें तो यहाँ हमारा (आत्माका) गुजारा ठीक न बनेगा। आत्महितकी दृष्टिसे इस व्यतिरेकको गौण करके अन्वय लक्ष्यमें लेना है और अपने आपमें उस शुद्ध अंतस्तत्त्वको निरखना है। जो न कषायसहित है न कषायरहित है।

असाधारण शाश्वत लक्षणसे परमार्थ तत्त्वकी प्रसिद्धि देखो लक्ष्य प्रसिद्ध होता है असाधारण लक्षण दृष्टिमें आने से। आत्माका लक्षण न तो कषायसहित है और न कषायरहित है। कषायसहित नहीं है यह तो झट समझ आ जायेगा कि कषाय औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है। भले ही आत्माकी परिणति, मगर स्वयं ही निमित्त बनकर यह आत्मा अपनेमें स्वभावके विकार बनाता हो ऐसा नहीं। यदि ऐसा हो तो वह नित्यकर्ता बन जायेगा विकारका और यह स्थायी भाव हो जायेगा। तो ये कषायें आत्माकी नहीं, अतएव आत्मा कषायसहित नहीं, यह बात शीघ्र समझमें आ जायेगी। मगर आत्मा कषायरहित नहीं, इस बातको समझनेमें थोड़ा विचार करना होगा। कषायरहित इससे आपने समझा क्या? लक्ष्यमें क्या लिया? वस्तु लक्ष्यमें आती है विधि द्वारा। जैसे चौकीका क्या स्वरूप है मैलसहित या मैलरहित। चौकीपर मैल तो आ ही जाता है और वहाँ कोई कहे कि बताओ

चौकीका क्या स्वरूप है मैलसहित या मैलरहित? तो क्या कहेंगे कि मैलसहित, यह तो चौकी नहीं है, तो चौकी तो अपनेमें सहज स्वयं जो है सो है। मैल तो ऊपरसे आया है, मैलसहितपना चौकीका स्वरूप कैसे बता दिया जायगा? तो क्या चौकी मैलरहित है? मैलरहित कहनेमें चौकी की कौनसी बात कही गई यह तो बताओ? चौकीकी निज की कोई बात कहनेमें आयी क्या? कोई बात कहनेमें नहीं आई है। तो चौकी मैलरहित भी नहीं, दूसरी बात। जैसे किसी पुरुषको कहा कि कैदमें है तो वह बुरा मानेगा और किसीसे कहा कि कैदसे छूट गया तो वह भी बुरा मानेगा। कोई कहेगा कि अच्छी बात तो कह रहे कैदसे छूट गया, मगर कैदसे छूट गया ऐसा बोलनेमें वह कैदमें था, ऐसा स्मरण तो बना दिया है। आखिर दोषकी बात तो बता दी और यदि पुरुषको प्रशंसित करना है तो उसके कहनेका यह ढंग नहीं? इसी प्रकार आत्माको कहा कषायसहित, वह तो बनता नहीं स्वभाव दृष्टि में। क्योंकि स्वभाव आत्माका कषायरूप नहीं है और कषायरहित कहा तो इसमें इतनी बात ख्यालमें आ गई कि यह कषायसहित था, अब कषायरहित है। मगर आत्मस्वभाव कषायरूप अनादि अनन्त कभी भी नहीं होता। देखो, स्वयं कोई पदार्थ अपने आपकी ओरसे विकाररूपको लिए हुए हो तो वह पदार्थ अपना सत्त्व ही नहीं बना सकता। पदार्थका सत्त्व तब ही होता कि जब वह पदार्थ स्वयं अपने आप सहज निरपेक्ष निज विशुद्ध स्वभावको लिए हुए है। तो उस ही स्वभावकी चर्चा एकान्ततः उन दार्शनिकोंने सर्वस्व पूर्ण वस्तु मानकरकी कि ज्ञान तो अन्वयरूप ही है। उसका इस सूत्रमें स्वयं निषेध हो गया जब कहा कि मति श्रुत आदिक भेदमें रहने वाले ज्ञानमें ही तुम अन्वय देख सकोगे। इससे अतिरिक्त आप अन्वय ही नहीं देख सकते। जैसे बालक, जवान, बूढ़ा इन अवस्थाओंमें ही तुम मनुष्य देख सकोगे, अलगसे मनुष्य न देख सकोगे, इसलिए वस्तुको अन्वयव्यतिरेकात्मक मानियेगा।

सत्की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकताका एक चित्रण देखो आजकलका जो राष्ट्रीय झंडा है यह लहराकर दुनियाको एक जिनशासनके इस सूत्रको बतला रहा है उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, उसमें रंग हैं तीन हरा, लाल और सफेद। हरे रंगका वर्णन होता है उत्पादके लिए। जिसने कोई आलंकारिक साहित्य पढ़ा हो तो हर जगह उत्कर्षके प्रकरणमें हरे रंगका वर्णन आयगा। यहाँ भी बूढ़े लोग कह देते हैं कि कहो बाबा जी, आप मजेमें हैं ना? तो वह झट कह देते हैं, हाँ हम खूब हरे-भरे हैं, खूब नाती-पोते हैं, अच्छाकामकाज है, मायने वे उत्पादको, इस बातको हरे-भरे रूपमें बताते हैं। हरा उत्पादके लिए आता है और लाल व्ययके लिए आता है। साहित्यमें लाल हो गया, खून-खच्चर हो गया, लाल रंगके वर्णनसे विनाशकी बात बनायी जाती है, और सफेद ध्रौव्यमें आता है। रंग भी तीन हैं, और वे रंग भी कितना बढ़िया ढंगसे हैं कि एक ओर हरा, एक ओर लाल और बीच में सफेद, जो यह ध्वनित करता है कि सफेद पर ही हरा होता है, सफेद पर ही लाल रंग आता है, जिसका अर्थ है कि सफेद मायने ध्रौव्य। जो ध्रुव वस्तु है उसमें उत्पाद और व्यय होता है। सफेदको छुवे हुए है, उत्पाद व्यय होनेपर भी ध्रौव्यको लिए हुए है। वस्तुका स्वरूप यह ही है। यह झंडा

लहराकर बतला रहा है, और देखो उसमें एक चक्र रहता है उसको समझिये धर्मचक्र। और सुयोग देखिये कि उसमें २४ ही लाइन खींची जाती हैं जो यह बतलाती हैं कि २४वें तीर्थकरके धर्मचक्रमें यह बात जाहिर होती है वह झंडा लहराकर कह रहा है कि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, वस्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक है।

परकी उपेक्षा व निजकी अभिमुखतामें ही आत्महितका लाभ देखिये भाई आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञानमूर्ति है। और जो स्वभाव है, स्वरूप है, सर्वस्व है वही मेरा सब कुछ है। ज्ञानसे ही हमारा महत्त्व है, उत्कर्ष है, पवित्रता, शान्ति, भलाई यह ही एक मात्र शरण है। जगतके ये सारे पदार्थ जो संयोगसे आये हुए हैं, जो मेरेसे भिन्न पड़े हैं, ये पदार्थ मेरे लिए कोई शरण नहीं हैं। चूँकि जो गृहस्थ जन हैं, गृहस्थीमें रहते हैं तो गृहस्थीमें आवश्यक है धन-वैभव, मकान, परिजन यह ही तो गृहस्थीका रूप है। तो इन सबको गुजारा कमेटी मानकर रहना, अपना कुछ मानकर मत रहना। यह मेरा घर है, ये मेरे परिजन हैं, ये मेरे मित्र हैं, यह मेरा यश है, यह मेरी बात है, यह मेरा पक्ष है, यह कुछ मानकर न रहना। इन सबसे निराला अपने आपमें ज्ञानस्वभावमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करना है। मगर ऐसा अनुभव बनाये रहनेके लिए बड़ा निरपेक्ष होनेकी आवश्यकता है। घरसे मतलब नहीं, किसी दूसरी वस्तुसे मतलब नहीं, शरीर नहीं छूट सकता तो बाहर शरीर मात्र ही रहे और अन्तः एक अपने स्वभावकी धुनमें रहे। ऐसा निरपेक्ष होकर स्वभावकी आराधना जिससे नहीं बनती वह गृहस्थ धर्म अङ्गीकार करता है और वहाँ गुजारा चलानेके लिए ये बातें आवश्यक हैं। तो यह इस शरीरका, इस भवका इन भोजनपान आदिक सुविधाओंका गुजारा करनेके लिए यह निवास है, यहाँ मेरा कुछ नहीं है, मेरा हित नहीं है, यह पंक है, कीचड़ है, मेरा सर्वस्व नहीं है, यह छूट जायगा। देखो यदि यह विश्वास हो कि ये सब समागम छूट जायेंगे तो इतने ही विश्वासपर बहुत धीरता आयगी, क्योंकि सम्यग्ज्ञान कर रहा ना, सम्यग्ज्ञानके बलपर धीरता होती है। देखो लोग बारातमें हजारों रुपयेकी बारूद फूँक देते हैं, मालिक लोग उसका बुरा नहीं मानते और एक कटोरी खो जाय दो रुपयेकी तो उसका दुःख विशेष करते हैं। क्या फर्क पड़ गया? उसने उस हजारको पहलेसे ही सोच रखा था कि यह तो मिटनेके लिए है, तो फूट जानेपर भी दुःख नहीं होता। और दो रुपयेकी कटोरीमें यह विश्वास बना था कि यह तो जिन्दगी भर तकके लिए है तो उसके गुमनेपर दुःख मानता है। तो मिले हुए समागमको ये समझ लें कि यह सब मिटनेके लिए हैं, बिखरनेके लिए हैं तो इनमें ममता न जगेगी और पद-पदपर कष्ट महसूस न होगा, ऐसे ही समझिये कि इस सच्चे ज्ञानमें ही हमको धीरता, तृप्ति, संतोष, पवित्रता सब कुछ लाभ मिलता है और भ्रममें हमको सर्व अनर्थ मिलता है।

“मतिश्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्” इस सूत्रमें क्या समझाया जा रहा है? ज्ञानका लक्षण बतानेके लिए यह सूत्र नहीं कहा गया। ज्ञानका लक्षण तो शब्द द्वारा, निरुक्ति द्वारा समझन लेना चाहिए। इस मोक्षशास्त्रमें ज्ञानका और चरित्रका लक्षण नहीं कहा। सम्यग्दर्शनका लक्षण

कहनेके लिए एक अलगसे सूत्र बताया है उसका कारण क्या है? कारण यह है कि ज्ञानमें जो शब्द हैं उन शब्दोंसे ही ज्ञानकी बात प्रकट हो जाती है। चारित्रिके शब्दसे ही चारित्रिकी बात प्रकट हो जाती है, जो उसका लक्षण है। पर सम्यग्दर्शनमें जो दर्शन शब्द है उससे अर्थकी प्रतीति सही नहीं बनती, क्योंकि दर्शनका देखना भी अर्थ है, आँखसे अवलोकन करना भी अर्थ है। तो चूँकि दर्शन शब्दके अनेक अर्थ हैं, अतः सम्यग्दर्शन शब्दसे सम्यग्दर्शनकी सही बात प्रकट नहीं होती, अतः सम्यग्दर्शनका लक्षण कहनेकी जरूरत पड़ी, पर ज्ञान शब्दमें ही ज्ञानका अर्थ पड़ा है। जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान। जो जानना सो ज्ञान। तो ज्ञानका अर्थ तो ज्ञान शब्दसे ही जाहिर है। यहाँ तो बतानेका मुख्य प्रयोजन यह है कि ज्ञान पर्यायरहित नहीं अर्थात् ज्ञानकी यहाँ ५ पर्यायें हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल। और ऐसा कहनेका प्रयोजन यह है कि जो दार्शनिक पर्यायरहित स्वभावको मानते हैं, उनका निराकरण और जो स्वभावरहित पर्यायको मानते हैं उनका निराकरण इस सूत्रसे हो जाता है। अच्छा तो अब लक्षणीय बातपर विचार करो। ज्ञानका लक्षण कहनेको तो सूत्र कहा नहीं गया। तो फिर हाँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इनका ही लक्षण इससे समझ लीजिए। इसका लक्षण भी अलगसे बताया नहीं गया सूत्र में। उसका कारण यह है कि सूत्र ग्रन्थ बड़ा परिमित प्रमाणित संक्षिप्त हुआ करता है कि जो बात स्वयं स्पष्ट हो जाये उस बातको कहनेकी पुनरुक्ति सूत्र ग्रन्थ में नहीं हुआ करती।

मतिज्ञानका निर्देशन मति, श्रुत, शब्द ही जो उनका अर्थ है उसे बता देता है और वह किस तरह अर्थ है मननं मतिः, यथा मन्यते सा मतिः, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेसे जिसके द्वारा मनन होता है उसे मति कहते हैं। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर याने इन्द्रिय और मनके व्यापारके निमित्तसे परिचय बनता है उस परिचयका नाम है मतिज्ञान। देखो मतिज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। इन पाँचों ज्ञानोंमें एक श्रुत ज्ञान तो सविकल्प है, शेषके चार ज्ञान निर्विकल्प हैं। यहाँ विकल्पका अर्थ है सोच-विचार तरङ्ग। विकल्पके तीन अर्थ होते हैं। विकल्पके मायने प्रतिबिम्ब ज्ञेयाकार सो ऐसा विकल्प तो ज्ञानका भूषण है, स्वरूप है, वह तो दूर होता नहीं, वह ज्ञानके साथ ही लगा है, सो जानना, इसका भी नाम विकल्प है। और उसमें विचार उठें, तर्कणा उठें तो उसका भी नाम विकल्प है। ऐसा विकल्प केवल श्रुतज्ञानमें है, चार ज्ञानोंमें नहीं, और विकल्पके मायने रागद्वेष यह तीसरा अर्थ है। तो इस तीसरे अर्थका यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है। तो मतिज्ञान निर्विकल्प है। अब आप ध्यानमें लावो कि मतिज्ञानका क्या विषय बनता? आँखें खुलीं, देखनेमें आया, क्या देखनेमें आया? हरा रंग आया देखनेमें। अरे यह विकल्प बना कि श्रुतज्ञान बन गया। जहाँ इतने विचार उठे, जहाँ तरङ्ग उठे वह श्रुतज्ञान है, और विचारके बिना, विशेषताके बिना जो ज्ञानमें आया वह मतिज्ञान है। देखिये यद्यपि कुछ समझानेके लिए ऐसा बताया जाता है कि देखो जो पहले हरा बोला वह तो मतिज्ञान है और यह जानें कि गहरा है, अच्छा है, यह श्रुतज्ञान है। जहाँ कुछ भी विचार उठे, वह सब श्रुतज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान तो निर्विकल्प है और इस

दृष्टिसे देखें तो हम आपके स्वानुभवके लिए मतिज्ञानकी कितनी बड़ी उपयोगिता है? मतिज्ञानसे निर्णय करें। वह निर्णायक ज्ञान है, पर सारे निर्णय, सारी विशेषतायें, सारी तरङ्गमालायें ये सब जहाँ गुप्त हो जायें, शान्त हो जायें, विलीन हो जायें, ऐसी कोई ज्ञानधारा आये वहाँ ही तो स्वानुभवका मार्ग मिलेगा। तो मति शब्द एक मनु ज्ञाने धातु है उससे बना है, उससे क्तिन् प्रत्यय होता है, सो क् और न्का लोप हो जाता है तब उससे मति शब्द बनता है; अर्थात् जानना सो मति है। मतिज्ञानमें क्या जाना गया? स्व और अर्थ।

ज्ञानमें स्वार्थव्यवसायात्मकताकी अनिवारित रीति देखिये जितने ज्ञान होते हैं सभी ज्ञानोंकी यह प्रक्रिया है कि वह स्व और अर्थको जानता है। जैसे दार्शनिक शास्त्रमें कहा है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। जहाँ केवल आत्मा ही जाना जा रहा है वहाँ स्व और अर्थ क्या? जो ज्ञान जान रहा है वह तो स्व और आत्मा अर्थ है। जहाँपर वस्तु जानी जा रही है वहाँ स्व और अर्थ क्या? जानने वाला ज्ञान स्व और जाननेमें आया हुआ वस्तु है अर्थ। प्रत्येक ज्ञानमें स्व और अर्थ दोनोंका निर्णय पड़ा हुआ है। और मोटे रूपसे यों समझिये क्यों भाई जैसे यहाँपर वस्तुका उदाहरण ले रहे, यहाँसे आपने जाना कि यह सिंहासन रखा है तो आपको ठीक अनुभव हो गया कि यह सिंहासन ही तो दीखा। सिंहासनके बारेमें पूरा निश्चय है ना, यह सिंहासन ही है, और सिंहासन है ऐसा जो जान रहा है उस ज्ञानके बारेमें भी तो निश्चयके साथ निश्चय पड़ा हुआ है कि यह ज्ञान ठीक ही है। ठिकार्य करनेमें दो जगह निर्णय बनता है। जिसको जाना जा रहा है वहाँकी ठिकार्य और जो जान रहा है उस ज्ञानकी ठिकार्य। एक कल्पना करो कि हम उस सिंहासनके बारेमें पक्का निर्णय किए हैं कि यह सिंहासन है, सही चीज है। वहाँ तो हम निश्चय किए बैठे और जानने वाले ज्ञानमें हम संशय करें कि उसे जानने वाला जो यह ज्ञान है यह ठीक है कि नहीं? अगर यहाँ संशय है तो वहाँ भी संशय है और यहाँ अपने ज्ञानकी ठिकार्य है तो वहाँ भी ठिकार्य है। ज्ञान स्वरूप है ऐसा कि जो निजका और अर्थका निश्चय करता है, यहाँ निजके मायने ज्ञान लेना है, आत्मा नहीं और यह सब जगह घटेगा। जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन हैं वे भी परवस्तुको जानते हैं। तो उनके उस व्यवहारमें स्व और अर्थका निश्चय पड़ा है। जान रहे कि यह चीज है, वहाँ भी निर्णय है और जिस ज्ञानसे जान रहे कि यह चीज है, उस ज्ञानका भी निर्णय है कि मेरा ज्ञान सही है। और लोग कहते भी हैं मेरा ज्ञान सही है और बात ऐसी ही है। बातमें भी सहीपन बैठाना और ज्ञानमें भी, इससे सिद्ध है कि सहीपनका सम्बन्ध दोनोंके साथ होता है। तो मतिज्ञान स्व और अर्थको जानता है। जो स्वयं ज्ञान है वह तो है स्व और तो जाना जा रहा है वह होता है अर्थ।

केवल स्व या केवल अर्थके परिचयके एकान्तवादका निराकरण क्योंजी, आप लोग सोचते होंगे कि ऐसा बतानेकी क्या जरूरत है? क्या कोई ऐसे भी लोग हैं जो यह विश्वास बनाये हों कि ज्ञान स्वको ही जानता है, अर्थको नहीं जानता? या क्या कोई ऐसे भी लोग हैं कि जो यह कहते हों कि ज्ञान अर्थको ही जानता है, स्वको नहीं जानता? हां हैं दार्शनिक ऐसे। जैसे ज्ञानाद्वैतवादी। उनका

मंतव्य है कि जगतमें अर्थ कोई है ही नहीं। सब सूना है। केवल एक स्वज्ञान है, ज्ञान मात्र है। यह है बौद्धोंका एक भेद ज्ञानाद्वैतवादी, उसकी चर्चा है। तो उनका मंतव्य यह है कि जगतमें जो कुछ है वह सब ज्ञान ज्ञानमात्र है। बाहरी पदार्थ कुछ नहीं है। अब देखो जो इस तरहका विश्वास लेकर चल रहा हो कि भाई ज्ञानसे प्रयोजन है, ज्ञान सेकाम है, सो ज्ञानको सत् कहो और बाकी जगतकी और बातें हैं, या पर्यायें हैं, या पदार्थ हैं उनसे हमें मतलब नहीं, उनका सत् मत कहो तो बस इसके ही समर्थक हैं वे एकांतवादी, जो यह कह रहे हैं कि ज्ञान ही ज्ञान हैं सब, अन्य कुछ सत् नहीं। तो ऐसे दार्शनिक हैं जो स्वको ही मानते हैं और अर्थको नहीं मानते। अच्छा तो फिर ऐसे भी कोई दार्शनिक हैं क्या कि जो अर्थको मानते हैं और स्वको नहीं मानते? हां ऐसे भी हैं। जैसे जानना तो होता है, मगर वह जानना पदार्थसे निकलता है। ऐसा मानते हैं कोई दार्शनिक कि ज्ञान स्वयं कोई चीज नहीं है और न ज्ञान स्वको जानता है। ज्ञान जो होता है वह पदार्थसे निकलता है और इसी कारण ही यह निर्णय बनता है कि इस ज्ञानने इस पदार्थको जाना औरको नहीं जाना, क्योंकि जो ज्ञान जिस पदार्थसे बनेगा वह ज्ञान उस पदार्थको जानने वाला कहलायेगा, ऐसा भी मानने वाले दार्शनिक हैं। जो केवल अर्थ अर्थको ही मानते हैं, स्वको नहीं मानते। तो इस सूत्रमें दोनों प्रकारके एकान्तवादियोंका निराकरण है। ज्ञानके इन लक्षणोंसे कि ज्ञान उसे कहते हैं जो स्व और अपूर्व अर्थको जाने, निश्चय करे उसे कहते हैं ज्ञान।

एक विलक्षणता और देखो, ऐसे भी दार्शनिक हैं जो कि यह तो कहते हैं कि स्व भी माननेमें आया, पर भी जाननेमें आया, पर जो ज्ञान निश्चय करे वह ज्ञान अप्रमाण है और जब तक निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान प्रमाण है। आपको सुननेमें कुछ अटपटा सा लगता होगा, मगर उनकी दलील जब सुनो तो आपको बहुत विचार करना पड़ेगा कि ये कहलाते हैं प्रत्यक्षवादी याने वे क्षणिकवादी लोग जो यह कहते हैं कि जिस क्षणमें जो बात हुई, चाहे पर्याय लगा लें, चाहे पदार्थ ही लगा लें। जिस क्षणमें जो पदार्थ उत्पन्न हो उसको जब हम जानने चलते हैं तो निश्चयात्मक तो जाननेमें देर होती है, समय बहुत छोटा होता है ना, तो जब हम जानते हैं तो वह पदार्थ निकल जाता है, नष्ट हो जाता है। अब जो पदार्थ नष्ट हो गया जितने समयमें तो ज्ञानने किसे जाना? असत्को जाना याने कल्पना ही रही, क्योंकि पदार्थ तो रहा ही नहीं। और जो असत्को जाने सो अप्रमाण। तो जिस समय वह पदार्थ था उस समय भी ज्ञान हुआ, मगर उस समयका ज्ञान निश्चय करने वाला नहीं था। निश्चय करनेमें थोड़ा समय लगेगा तो जब निश्चय बने तो वह सविकल्प ज्ञान है। विकल्प बिना निश्चय नहीं होता। तो निश्चय करने वाला ज्ञान तो अप्रमाण है और जहाँ निश्चय नहीं, विकल्प नहीं, ऐसा जो प्रतिभास है वह प्रमाण है। ऐसे मानने वाले भी दार्शनिक हैं। तो उन दार्शनिकोंका निराकरण होता है, व्यवसायात्मक ज्ञान होता है इस वाक्य से। जो स्व और अर्थका निश्चय करे वह प्रमाण होता है। ये दो बातें बराबर सबमें देखते जावो। मतिज्ञानने जो जाना वह मानो इस तरह जाना जिस तरहका ज्ञान अभी बतलाया, क्षणिकवादीका बताया। विकल्प हुआ बाद

में। तो जाननेमें आया पहले निर्विकल्प रूप से। बस जो मतिज्ञान है सो ही उनका निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। मगर अन्तर इतना है कि मतिज्ञानमें तो निर्णय है और उनका निर्विकल्प प्रत्यक्षमें निर्णय नहीं है।

मतिज्ञानके निर्देशका उपसंहार मतिज्ञानको सरल बातोंमें यह समझ लो कि ५ इन्द्रिय और मनके द्वारा जो पहिले-पहिले बोध होता है उसे कहते हैं मतिज्ञान। हम आपके समस्त ज्ञान विस्तारकी नींव हैं मतिज्ञान, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। अब उसमें एक सूक्ष्मतासे परिचय बनायें तो आपके सुननेमें शब्द आ रहे ना? तो जहाँ इतना अर्थ लगा आपके अन्दर तो वह सुनना मतिज्ञान नहीं। तो श्रुतज्ञान बन गया, क्योंकि वहाँ आपका विचार उत्पन्न हुआ। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय और मनकी बात है, ऐसा विलक्षण विषय है मतिज्ञानका कि यदि मतिज्ञानका विषय ही समझमें आया तो ख्याल और विकल्पकी सिट्टी भूल जाये, वहाँ ख्याल, विकल्प तरंग कुछ नहीं उत्पन्न होते, ऐसा पवित्र विषय है मतिज्ञानका। यह सम्यग्ज्ञानकी बात चल रही है। यह सब कुछ बतानेके लिए यह प्रकरण तो नहीं चल रहा, मगर बतानेसे ही तो इसका विशेष बोध होगा। प्रकरण तो यह चल रहा कि पदार्थके जाननेके उपाय क्या-क्या हैं प्रमाण और नय। प्रमाणका नम्बर है यह। प्रमाण क्या चीज है? सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं, सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान क्या है? तो यह मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान है सम्यग्ज्ञान। ये इसकी पर्यायें हैं, ये परिणतियाँ हैं। मतिज्ञानके भेद आयेंगे आगे। इस भेदसे मतिज्ञानके बारेमें बहुत परिचय मिलेगा।

श्रुतज्ञानका निर्देश अब श्रुतज्ञानका स्वरूप देखिये श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो श्रवण करना है वह श्रुत है। अब यहाँपर श्रवणके मायनेकानोंसे सुनना ही अर्थ नहीं, यह उपलक्षित शब्द है। श्रवण करना मतिज्ञानसे जो जाना है उसका श्रवण करना, उसके सम्बंधमें कुछ चिन्तन होना सो श्रुतज्ञान है। अभी किसी से कोई बात कहें और वह ध्यानसे न सुने, सुन तो रहा है, कानोंसे ढक्कन तो लगे नहीं हैं, आँखोंमें जरूर ढक्कन हैं, चाहें तो इन दोनों ढक्कनोंको बंद कर लिया। हमें आपको नहीं देखना है तो ढक्कन बंद कर लिया, मगर हमें आपकी बात नहीं सुनना तो इसका आप क्या उपाय बनायेंगे? कानोंमें ढक्कन तो हैं नहीं, वे सुननेमें आयेंगे, मगर एक साधारण तौरसे सुन लेना, ऐसा ही अगर कोई सुन रहा है और इसमें कोई चिन्तन, मनन, ध्यान नहीं बना रहा है तो आप उसे कहते अरे सुन नहीं रहे?...सुन तो रहे। उसे सुनना नहीं कहते याने कुछ विचार करते हुए सुने उसका नाम यहाँ सुनना समझिये। तो मतिज्ञानपूर्वक जो इसी विषयके सम्बंधमें अधिक परिचय है वह अब श्रुतज्ञान है। देखो जो देखने में, जो समझमें आया सो मतिज्ञान और यह अमुक है, गहरा रंग है, हरा रंग है, यह भी जाना गया है आदिक बातें सोचना सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थका निश्चायक है। जो जाना जा रहा है, चाहेपर अर्थ जाना जा रहा हो, चाहे आत्मपदार्थ जाना जा रहा हो उसका परिचय बनता रहता है। और जो ज्ञान जान रहा है उसका भी निश्चय बन सकता है। यहाँ मोटी बात यह समझनी है कि जिस ज्ञानसे हम चीजको निश्चित जान

रहे हैं तो पहले यों समझ लो कि इस ज्ञानके जाननेका हमें निश्चय है कि यह जो मेरा ज्ञान है वह सही है, उसके ही साथ बाह्य अर्थके सहीपनका निश्चय चलता है। यह ज्ञानका स्वरूप है, ज्ञानकी प्रकृति है। ज्ञान खुद अपने आपमें संदेह बनाये तो अर्थ परिचयमें निःसंदिग्धता नहीं हो सकती। जैसे यह सीप है कि चांदी? ऐसा जब डावांडोल बाह्य पदार्थके बारेमें परिचय चल रहा हो तो साथमें यह ज्ञानका डावांडोल भी चल रहा कि नहीं? दोनों जगह डावांडोल है। और यदि निश्चय है तो दोनों जगह निश्चय है। तो श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थका निश्चय करने वाला होता है। अब देखिये भाई, सब कुछ निश्चय व्यवहारात्मक है कथन। अब यहाँ यदि केवल निश्चयसे देखें तो यह कहें कि ज्ञान केवल स्वको जान रहा है, व्यवहारसे देखें तो कहें कि परको जान रहा है, अर्थको जान रहा है। आत्माके ही ज्ञानमें स्व औरपर लगे हुए हैं। जो जान रहा है सो स्व और जो श्रेय आत्मा है सो पर।

आत्माके परिचय व अनुभवकी पद्धति देखो आत्माके अनुभव करनेकी जो पद्धति है वहाँ परिचय पद्धतिसे मिलती है अनुभवपद्धति। मगर परिचय पद्धति और अनुभव पद्धतिकी एक सूक्ष्मता देखिये। किसी भी पदार्थको हम जानते हैं तो उस पदार्थका परिचय इन चार दृष्टियोंसे होता है (१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव। एक इस पुस्तकका ही हम ज्ञान करें तो द्रव्यदृष्टिसे यह पुस्तक है, जो पिण्ड है, जो हाथमें लिए हैं, यह तो द्रव्यसे जाना। क्षेत्रसे जाना इसका जितना आकार-प्रकार है, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई है, ऐसा जो इसका परिचय बनता तो क्षेत्र दृष्टिसे बनता। और इसकी जो वर्तमान परिणति है वजनदार, हल्का, हरा, पुराना, नया, पुष्ट, कमजोर जो कुछ भी आप जान रहे हैं यह किस दृष्टिसे जाना? कालदृष्टि से। और इसमें जो शक्ति है, गुण हैं उनको जाना स्वभाव दृष्टि से। इसी तरह आत्माका भी परिचय चार दृष्टियोंसे मिलता है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् गुण पर्याय पिण्ड। वह सब जो कुछ एक है वह द्रव्यदृष्टिसे जाना। क्षेत्रदृष्टिसे जाना आत्माका फैलाव। जैसे अभी पैरके नखसे लेकर सिर तक इतना लम्बा-चौड़ा आत्मा है कि प्रदेशसे जाना, क्षेत्रसे जाना। कालसे जाना आत्मामें जो कुछ परिणति हुई विकारी परिणति, अविकारी परिणति, यह स्वभाव नहीं जाननेमें आया। क्रोध कर रहे तो क्रोध, शान्त रहे तो शान्ति। ये सब परिणतियाँ जानीं तो कालदृष्टि से। और भावदृष्टिसे क्या जाना? भाव होते हैं दो प्रकार से। भेदरूप भावदृष्टि और अभेदरूप भावदृष्टि। भेदरूप भावदृष्टि जाना कि आत्मामें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चरित्र गुण है, आनन्द गुण है और अभेदभावदृष्टिसे जाना कि आत्मा चिदात्मक है, चैतन्य-स्वरूपमात्र है। वहाँ भेद नहीं होता। तो अब यह देखें कि परिचयके बिना हम अनुभवके पात्र नहीं बन सकते। मगर परिचयमें हमने जो-जो कुछ समझा है उस-उससे उत्तीर्ण होकर उन-उनको पार करके जब हमें अभेदभाव दृष्टिसे अपने आपमें अपना प्रयोग करना है तब हमें वहाँ स्वानुभव बनेगा।

निजमें स्व व परके परिचयका विभाग अब देखो द्रव्यसे भी हमने जो आत्मा जाना, अनुभवमें जो आत्मा जाना उसके सामने तोपर है। क्षेत्रसे हमने आत्मा जाना, किन्तु अनुभवसे जो आत्मा जाना उसके आगेपर है। कालसे जाना सोपर है, गुणसे जाना सोपर है, और अभेददृष्टिसे जो एक चिदात्मक

अनुभव बना वह है आत्मा। स्व और परकी व्यवस्थायें बहुत विस्तृत हैं। उसका यह प्रकरण नहीं है। “प्रमाणनयैरधिगमः।” सूत्रका जब प्रकरण था तो वहाँ इसको बहुत स्पष्ट किया गया था। यहाँ स्व और अर्थसे मतलब है स्व मायने खुद याने जानने वाला ज्ञान, न कि आत्मा और अर्थ मायने जो कुछ ज्ञानमें विषय हो रहा है वह पदार्थ। तो देखो अर्थ तो हुआ व्यवहार और स्व हुआ निश्चय और जाननेमें दोके बिना जानना होता ही नहीं। केवल अर्थ अर्थको जानें, स्व न हो तो ज्ञान नहीं बनता। केवल ज्ञान स्व हो और वहाँ अर्थ न हो याने ज्ञेय न हो कुछ तो ज्ञानकी मुद्रा नहीं बनती। इतनेपर भी आप इन सब परिचयोंका उपयोग क्या करेंगे और उनका प्रयोजन क्या है? एक धुन होनी चाहिए, बस निर्विकल्प एक अनादि अनन्त निज सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति अनुभूति उसके लिए जो-जो करना पड़े सो करें। क्या करना पड़ेगा? संयम, तपश्चरण, विशुद्धि, कषायकी मंदता। जो कुछ करना पड़े करें, किसके लाभके लिए? एक मेरे अपने आपके अनादि अनन्त अहेतुक सहज परमात्मतत्त्वका अनुभवात्मक परिचय रहा करे इस प्रयोजनके लिए। क्योंकि अभी अपन बहुत दूर खड़े हैं। दूर खड़ेके मायने इस अनुभवरूप महलमें पहुंचनेके लिए इससे हम कितनी दूर खड़े हैं इतनी दूर रहने वाले हैं। तो यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें बोल रहे हैं कि स्वार्थे मतिः स्वार्थे श्रुतं, स्व और अर्थके बारेमें जो मनन है सो मति है, श्रुत ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जो श्रवण है, चिन्तन है उसे कहते हैं श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञानका निर्देश अवधिज्ञान किसका नाम है? अवधिज्ञानावरणके विगम होने से, विगम तो नहीं होता, किन्तु जैसा विगम है वह है क्षयोपशम। तो जितना क्षयोपशम हो उतना अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे स्व और अर्थका जो ज्ञान है उसे कहते हैं अवधिज्ञान। देखो अवधिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना होता है, केवल आत्माके आश्रयसे होता है और इसीलिए इसे प्रत्यक्ष कहते हैं, फिर भी इस आत्म प्रदेश में, इस देहमें अवधिज्ञान होते समय जहाँ कहीं भी एक ऐसे चिन्हसे हो जाते हैं जिसे आप समझिये कि वे मानो इन्द्रिय और मनका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अब समझ लो कि निरपेक्ष होनेपर भी अभी इतनी कमजोरी है और उसके ऐसे चिन्ह करणानुयोगके तीन-चार प्रकारके बताये गए हैं। अवधिज्ञानकी प्रकृति होती है कि नीचेका क्षेत्र ज्यादा जाने, यह अवधिज्ञान प्रकृति है जानता है अवधिज्ञान चारों ओरकी बात। जितनी भी मर्यादा हो लेकिन उसमें नीचेके क्षेत्रकी म्याद अधिक होती है, अगल-बगलकी म्याद उससे कम होती है और ऊपरकी म्याद उससे भी कम होती है। यह अवधिज्ञानसे जाननेकी प्रकृति है। अवधिज्ञानसे जाना। जाननेके बाद अगर किसीको बताना हो तो वह अवधिज्ञानसे बता सकेगा, श्रुतज्ञानसे बतावेगा। अवधिज्ञान तो इस ढंगकाकाम करता है जिस ढंगसे मतिज्ञानकाम करता है। मतिज्ञान निर्विकल्प है। अवधिज्ञान भी निर्विकल्प है। जैसे मतिज्ञानसे जाना, श्रुतज्ञानसे बखाना तो अवधिज्ञानसे जाना और श्रुतज्ञानसे बखाना। पुराणोंमें जहाँ कहीं चर्चा आती है कि अमुक राजा अवधिज्ञानी मुनिके पास पहुंचा, उसने अपना पूर्वभव पूछा तो अवधिज्ञानी मुनि महाराजने उत्तर दिया। इतनेमें हो क्या गया उनके अंदर

कि अवधिज्ञानसे तो मतिज्ञानकी तरह ऐसा साफ स्पष्ट जान लिया जैसे कि हम आँखोंसे स्पष्ट जानते हैं उससे भी स्पष्ट। इस प्रकार इन्द्रिय मनकी सहायताके बिना अवधिज्ञानसे यहाँ वहाँके पदार्थ जाने जाते हैं, जाने गए और अब जब उनको बताने लगे तो उस ज्ञानका स्मरण रहा अभी। जो अवधिज्ञानसे जाना उसका उनके बराबर अवधारण है और फिर श्रुतज्ञानके उपयोगसे दूसरेको बताते हैं। जिस समय बता रहे उस समय अवधिज्ञानसे जान नहीं रहे। जिस समय अवधिज्ञानसे जान रहे उस समय बता नहीं रहे, तो अवधिज्ञान भी मतिज्ञानकी तरह निर्विकल्प होता है। तो यह सम्यग्ज्ञान इन चार पर्यायोंरूप होता है जिसमें मति, श्रुत, अवधिज्ञानका संक्षेप स्वरूप कहा, अब आगे कहेंगे।

मनःपर्ययज्ञानका निर्देशन “मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्” इस सूत्रके विवरणके प्रसंगमें मनःपर्यय ज्ञानकी बात कह रहे हैं। मनःपर्ययमें चार शब्द हैं मनः, परि, इण, अञ्। मनः एक उपपद है, परि उपसर्ग है, इण गतौ धातु है और अञ् इसमें प्रत्यय लगता है। सबका संधि होनेपर मनःपर्यय शब्द बनता है। इस शब्दके अनुसार इसका अर्थ है, मनकी बातको जो चारों ओरसे जाने उसे मनःपर्यय कहते हैं। यह निरुक्ति अर्थ हुआ। आगमार्थ क्या है? मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परकीय मनोगत अर्थोंको आत्मीय शक्तिसे इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जाने उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यहाँ मन एक अवलम्बन मात्र है। कहीं मनके द्वारा मनःपर्यय ज्ञान नहीं होता। यह तो आत्मीय शक्तिसे होता है तब ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। पर जैसे वृद्ध पुरुष चलता तो अपनी शक्तिसे है, मगर लाठी अवलम्बन मात्र है या जैसे दूर रहने वाले चंद्रमाको देखते हैं और उसे किसी बच्चेको दिखाना है तो किसी डंडे या अंगुलीके सहारेसे दिखाते हैं। तो वह अंगुली या डंडा आलम्बन मात्र है। देखा तो आँखोंसे ही जाता है, ऐसे ही मनःपर्यय ज्ञानमें जाना तो आत्मासे ही जाता है, मगर अवलम्बन है मन। किसका मन? परकीय मन और स्वकीय मन। इनमें इतना अंतर समझना कि दूसरेके मनके आलम्बनका अर्थ इतना है कि दूसरेके मनमें आया हुआ विकल्प, पदार्थ विषयभूत होता है। यह परकीय मन तो विषयभूतकी अपेक्षा अवलम्बन है, और स्वकीय मन ईहामतिज्ञानपूर्वक मतिज्ञान होता है। इस रूपमें अवलम्बन मात्र है, जैसे अवधिज्ञान अवधिदर्शनपूर्वक होता है ऐसे ही मनःपर्यय ज्ञान किस दर्शनपूर्वक होता है? कोई दर्शन अलग क्यों नहीं बताया गया? तो उसका कारण यह है कि मनःपर्यय ईहामतिपूर्वक होता है तो वह दर्शनपूर्वक नहीं होता। इसका कारण क्या है कि जब पहले कुछ एक मनमें तर्कणा जगती है जानूँ, इस प्रकारकी आकांक्षा बनती है और स्वकीय मनमें प्रयोग प्रारम्भ होता है तब इसके अधिकारी मुनिके यह विकल्प मिटकर मनःपर्यय ज्ञान बनता है और दूसरेके मनके भाव या मनमें जो बात आयी हो वह जान लिया जाता है। तो यों मनःपर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और यह ज्ञान, ज्ञान सामान्यका एक परिणमन है।

केवलज्ञानका निर्देशन केवलज्ञान केवलज्ञानका अर्थ क्या है कि केवल याने असहाय, स्वसहायक, मात्र, प्योर, वही वही जो क्षायोपशमिक ज्ञानके सहायसे रहित है, केवल आत्मशक्तिसे स्वभावतः जो

जानना होता है वह है केवलज्ञान। तो जो असहाय हो उसे केवल बोलते हैं। असहायका अर्थ क्या? स्वसहाय। कहीं इस तरह अर्थ न लगाना कि बेचारा असहाय है, इसका कोई मददगार नहीं है। अरे असहाय होना सबसे ऊंचा पद है और असहाय होना, यह तो एक स्वाधीनताकी बात है। तो प्रभुका केवल ज्ञान असहाय है। इन्द्रिय मनकी अपेक्षा नहीं रखता कि सामने पदार्थ हो, वर्तमानमें पदार्थ हो आदिक अभिमुखताकी अपेक्षा नहीं रखता, और किसी ज्ञानपूर्वक वह भी सहायकी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा असहाय स्वयं समर्थ ज्ञान केवलज्ञान है। दूसरी प्रकारसे केवलज्ञानका अर्थ समझिये यह केवल शब्द बना है किवधातुसे “यदर्थ अर्थिनः मार्गं केवंते तत् केवलम्।” जिसके लिए भव्य जीव मार्गकी सेवा करते हैं उसे कहते हैं केवल। किसलिए लोग धर्ममें लग रहे? एक अपने वास्तविक स्वरूपके लाभके लिए। जो स्वयं सहज हो सो हो अर्थात् क्या होता वहाँ केवलज्ञान। तो जिसके लिए जिस एक स्वाभाविक ज्ञानके लिए अर्थी जन, भव्य जन मार्गकी सेवा करते हैं उसे कहते हैं केवलज्ञान। देखो केवलज्ञानमें दो शब्द पड़े हैं के और वल। ‘क’ संज्ञा है और उसका अर्थ आत्मा होता है। एकाक्षरीकोशमें कके मायने है आत्मा औरके है सप्तमी विभक्ति में के मायने आत्मामें जो सामर्थ्य है वह सब सामर्थ्य आत्मामें है, प्रकट है। ऐसी जहाँ स्थिति हो उसे कहते हैं केवल। और ऐसी सामर्थ्य वाला जो ज्ञान है उसे कहते हैं केवलज्ञान।

निमित्त और उपादानकी दृष्टिसे केवलज्ञानके आविर्भावका दिग्दर्शन केवलज्ञान कैसे हुआ? इसके सम्बन्धमें मोक्षशास्त्रमें दशम अध्यायका पहला सूत्र है मोहका क्षय होनेसे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तरायका क्षय होनेसे केवल प्रकट हुआ है। तो कितनी बातें आयीं? मोहका क्षय। सो मोहका क्षय होता है तीन जगहमें और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायका क्षय होता है एक जगह में। ऐसे ४ पद वे कौन हैं? मोहके क्षयके लिए तीन विभाग बनाओ। एक बार होगा दर्शन मोहका क्षय और उसीके साथ चारित्रमोहकी चार प्रकृतियाँ। इन ७का होता है एक पदमें क्षय। वह क्षय चौथे गुण स्थानसे लेकर ७वें गुणस्थान तकके बीच कहीं भी हो सकता है। शेष बची जो चारित्र मोहकी २१ प्रकृतियाँ हैं उनमेंसे २०का क्षय होता है। ६वें गुणस्थानमें और संज्वलन लोभका क्षय होता है। १०वें गुणस्थानमें और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनका क्षय होता है १२वें गुणस्थानके अन्त में। इस प्रकार चारों घातिया कर्मोंका क्षय हो जानेपर केवल ज्ञान प्रकट होता है। अच्छा अब जरा उपादान दृष्टिसे देखिये तो बताया गया है कि अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञान स्वभावका उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञान रूप होकर वह आत्मपरिणति है। हुआ क्या? देखो यह बात झट समझमें आयगी कि छद्मस्थ अवस्थाके बाद केवलज्ञान हुआ इस प्रसंगमें कि अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका आश्रय करके केवलज्ञान हुआ, पर जहाँ केवलज्ञान हो रहा है और प्रतिसमय केवलज्ञान चल रहा है वहाँ केवलज्ञानके विकासकी क्या विधियाँ हैं याने प्रतिक्षण केवलज्ञान जो होता चले जा रहा है उसकी क्या विधि है? उसकी भी यह ही विधि है कि कारण समयसारको उपादान कर कार्यसमयसार चलता जा रहा है। कारण समयसार

परिणामिक भाव ध्रुव उपादान, ओघशक्ति ये सब शाश्वत अनादि अनन्त हैं। कहीं प्रभु हो जानेपर स्वभाव मिट गया तो सो बात नहीं, उस ही स्वभावका उपादान कर यह शुद्ध पर्याय प्रकट होती जा रही है, ऐसा यह जो कि सहज है, पवित्र है, निरपेक्ष है तो इस ज्ञानमें इतनी सामर्थ्य है कि जो भी सत् था, है, होगा, सत् तो सदा रहता है, मगर पर्याय अपेक्षा समझना है कि जो सत् था, है, होगा वह सब एक साथ ऐसे केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होता है, प्रकट होता है, ज्ञान होता है जैसे कि मानो कोई पूर्वकाल और भविष्यकाल और वर्तमानकालके इतिहासके पुरुषोंका चित्र एक पटमें हो और जैसे इस पटके चित्रको हम एक साथ देख लेते हैं, ऐसे ही वहाँ उपयोगमें समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ स्पष्ट एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं, ऐसा विशुद्ध केवलज्ञान वह भी ज्ञान है। इस तरह ज्ञानकी इन ५ अवस्थाओंका वर्णन इस सूत्रमें किया गया है।

मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानके अर्थकी शब्द द्वारा प्रतिपत्ति इन ५ ज्ञानोंका अलगसे अर्थ करने वाला कोई सूत्र नहीं है। मत रहो। कारण यह है कि शब्द द्वारा ही इस ज्ञानका स्वरूप जान लिया जाता है। जब शब्दसे जानना न बने और कोई लक्षणान्तरकी सूचना देनी होती है। अब इस सूत्रमें यह देखिये कि इन ५ ज्ञानोंके नाम इस क्रमसे क्यों रखे गए? और तरह भी रख सकते थे श्रुत, मति, अवधि, इस ढंगसे भी रख सकते थे। किसी भी प्रकार रख सकते थे। यह ही क्रम क्यों रखा कि पहले मतिज्ञान फिर श्रुतज्ञान, फिर अवधिज्ञान, फिर मनःपर्यय ज्ञान, फिर केवलज्ञान। देखिये सूत्र पाठकी बात, जो आप लोग भक्तिसे पर्वके दिन या भक्तिमें जब पाठ कर लेते हैं तो किसका पाठ करते और उस पाठमें क्या बोला करते, वह ही कुछ बात यहाँ कह रहे हैं। ५ ज्ञान यहाँ बताये गए हैं जो इन्द्रिय, मनसे एकदेश विशद ज्ञान करे उसका नाम मतिज्ञान और मतिज्ञानसे जानकर उस विषयमें विशेष प्रतिपत्ति पाये उसका नाम श्रुतज्ञान। और इन्द्रिय, मनकी सहायता बिना कुछ भूत, भविष्य और दूर क्षेत्र के रूपी पदार्थोंको जाने सो अवधिज्ञान और दूसरेके मनमें रहने वाले विकल्प विचारोंको इन्द्रिय मनकी सहायता बिना आत्मीय शक्तिसे जाने सो मनःपर्यय ज्ञान और आत्मशक्तिसे पूर्ण निरावरण होने के कारण जो सर्व सत्को एक साथ जाने उसको कहते हैं केवलज्ञान। वे ५ ज्ञान क्या हैं? यह किसी औरकी चर्चा नहींकी जा रही है, यह हमारी ही चर्चा है। कुछ ज्ञान अभी ऐसा है, जो नहीं है उसका इस ज्ञानमें पूर्ण सामर्थ्य पड़ा हुआ है, स्वभाव पड़ा हुआ है। अब जो विधि है, जो विधान है उस ढंगपूर्वक बने तो उसका विकास होता है।

सूत्रमें मतिका सर्वप्रथम और इसके बाद श्रुत शब्दका प्रयोग करनेका कारण इन ५ ज्ञानोंका इस सूत्रमें कैसा क्रमसे रखा गया? इसका कारण सुनो। सबसे पहले क्या रखा? मति। सबसे पहले मति रखनेके तीन कारण हैं। पहली बात तो यह है कि यह शब्द स्वन्त है अर्थात् सु संज्ञा वाला है। जिस शब्दके अंतमें 'इ' और 'उ' लगा हो उसको सु संज्ञा वाले बोलते हैं और सु संज्ञा वाले शब्दोंका प्रकृत्या पहले ही बोलना बनता है। देखो रिवाज भी ऐसा होता है। अब कुछ और सुनिये,

बात यह है कि इकारान्त शब्द है, सु संज्ञा वाला है, इतने मात्रसे पहले कहनेका अधिकार नहीं, एक कारण यह भी है। दूसरा कारण यह है कि इसमें अल्प अक्षर हैं। इन ५ में सबसे थोड़े अक्षर इसीमें हैं, कैसे जाना? देख लो व्यञ्जन दो हैं और स्वर भी दो हैं। अब सबमें लगा लो। श्रुतमें तीन व्यञ्जन हैं, दो स्वर हैं, अवधिमें तो ३ व्यञ्जन हैं और ३ स्वर हैं। मनःपर्ययमें भी ज्यादा, केवलमें भी ज्यादा, तो थोड़े अक्षर हैं इसलिए मतिका पूर्व निपात है। जब कभी आपको दो-चार लड़कोंका नाम लेना होता है बुलानेके लिए तो प्रकृत्या जिसके थोड़े अक्षर हों नामके वह नाम पहले लेनेमें आता है, कुछ ऐसी आदत भी है लोगों की। तो इन दो कारणोंसे मतिका प्रयोग पहले किया है। और तीसरा कारण यह है कि इसका विषय अल्प है। मति ज्ञानका विषय तो सबसे छोटा है ना, विस्तार भी नहीं है। प्रारम्भिक ज्ञान है यह हम आप जीवोंका। इन तीन कारणोंसे मति शब्दको इस सूत्रमें पहले लिखा गया है। मतिके बाद श्रुत शब्द क्यों दिया कि श्रुतका सम्बन्ध मतिसे अधिक है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और श्रुतज्ञान मतिको लेकर होता है। इस कारण श्रुतज्ञानको मतिज्ञानके बाद कहा। यों परोक्षज्ञानसे पहले निपटा दिया, क्योंकि हम आपके ये सब ज्ञान चलते हैं। तो जो हम आपमें बात प्रसिद्ध होती है और यह सबमें होती ही रहती है अनादि से। तो जो चल रहा है उसकी बात पहले करनी होती है। इस तरह इस सूत्रमें मति और श्रुत शब्दका पहले निपात किया।

प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें प्रथम अवधि, पश्चात् मनःपर्ययके प्रयोगका कारण अब इसके बाद प्रत्यक्ष ज्ञान क्रम देखिये। इसमें क्रम दिया है अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन तीनमें अवधिज्ञानको पहले क्यों रखा है? इसका कारण यह है कि इन तीन ज्ञानोंमें सबसे कम विशुद्धि अवधिज्ञानमें है। देखो तभी तो अवधिज्ञानके संसारमें स्वामी भी अधिक संख्यामें हैं। नारकी सभी अवधिज्ञानी हैं। अब उसमें सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानका भेद करके छोटे भेद यह एक अलग बात है, फिर भी चारों गतियोंमें अवधिज्ञानी सम्यग्ज्ञानी हो सकते हैं। और यों अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानीसे बहुत अधिक संख्यामें पाये जाते हैं। अवधिज्ञानकी विशुद्धि अल्प है मनःपर्ययज्ञान से। दूसरा कारण यह है कि अवधि शब्दमें मात्रायें थोड़ी हैं। अवधिकी कितनी मात्रायें हैं? तीन। मात्रायें मायने जहाँ ह्रस्व दीर्घ स्वरोंके अनुसार प्रयोगकालका माप हो जाये। ह्रस्व स्वरमें एक मात्रा है, दीर्घमें दो और संयुक्त व्यञ्जन आया, उससे पहले चाहे ह्रस्व स्वर भी हो, उसकी दो मात्रायें विसर्ग और अनुस्वार हो तो दो-दो मात्रायें हैं। यहाँ अ, व उतरवर्ती अ व ध उतरवर्ती इ ये तीन मात्रामें स्वर हैं, इससे तो मनःपर्ययमें बहुत मात्रा हैं, अक्षर भी हैं। केवलमें भी ४ मात्रा हैं के में दो हैं, वकी एक, लकी एक, इस तरह वहाँ चार मात्रायें हैं। तो अवधिमें मात्राओंके अल्प होनेसे भी अवधिज्ञानका पहले निपात किया। दूसरी बात यह है कि अवधि शब्द भी सुसंज्ञा वाला है, इकारान्त शब्द है तो इन तीन कारणोंसे अवधि शब्दका पहले प्रयोग किया। देखो पढ़ते हैं ना ५ ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल उनमें यह बतला रहे हैं कि इस क्रमसे लोग बोलते क्यों हैं और ढंगसे क्यों नहीं बोल उठते? उसका कारण बतलाया जा रहा है कि इन कारणोंसे इसका यह क्रम रखा है। अब इसके बाद रखा

मनःपर्ययको। इसका कारण यह कि अवधिज्ञानसे मनःपर्यय ज्ञानमें विशुद्धि अधिक है। मनःपर्यय विशिष्ट ऋद्धिधारी मुनियोंके ही होता है। उनमेंसे सभी मुनियोंके नहीं, किन्तु जो विशेष संयत है और मनःपर्यय ऋद्धि प्राप्त हो गई है उनके ही मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। तो अत्यन्त विशेष विशुद्धि होने के कारण याने सर्वाधिक ज्ञानसे अधिक विशुद्धि ऋजुगति मनःपर्ययज्ञानमें है। उससे अधिक विशुद्ध विपुलमति मनःपर्ययज्ञानमें है। तो अवधिज्ञानसे विशेष विशुद्धि होने के कारण अवधिज्ञानके बाद मनःपर्ययज्ञानको रखा गया है और फिर मनःपर्ययज्ञानमें विपुलमतिके तो नियम हैं कि यह नियमसे केवलज्ञान पायेगा, संसारसे पार होगा। इतनी विशेष विशुद्धि होने के कारण मनःपर्ययज्ञानको अवधिज्ञानके बाद रखा।

अन्तमें केवलज्ञानका सूत्रमें प्रयोग करनेका कारण अन्तमें केवलज्ञान रखा। इसका कारण यह है कि ज्ञानके प्रकर्षका पूर्ण अतिशय यहाँ ही है, इससे पहले सब छोटे ज्ञान कहलाते हैं, तब ही मनःपर्ययज्ञान हो जानेपर भी औदयिक भावकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानके मालिकके अज्ञानभाव बताया गया है जहाँ तक केवलज्ञानावरणका उदय है वहाँ तक औदयिक अज्ञानभाव बताया गया है। तो केवलज्ञान तो है एक ज्ञानका अत्यन्त प्रकर्ष और अतिशयका पद है और साथ ही मुक्त अवस्था हो जानेपर भी केवलज्ञान बना रहता है, अरहंत अवस्थामें भी केवलज्ञान है और उसके बाद सिद्ध हो गए तो वहाँ भी केवलज्ञान बना रहता है। इस अतिशय के कारण केवलज्ञानको अन्तमें कहा। और यही केवलज्ञान मुक्तिका कारण है। यद्यपि जीवनमुक्त अरहंत अवस्थामें है, मगर सर्वथा मुक्त याने द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन सबसे छूटनेकी बात इस केवलज्ञानसे ही तो हुई है, सिद्ध हुए हैं।

पांच ज्ञानोंके समूहको ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति अब देखो एक बड़ेकामका दार्शनिक विषयका जिक्र आयेगा, कुछ कठिन जरूर पड़ जायेगा, मगर थोड़ा साहस बनायें, सुनें तो कुछ तो आयेगा ही समझ में और भी आये तो भी धैर्य रखें कि हम जैन शासनकी ऐसी मर्मकी बात सुन रहे हैं कि जो इतनी कठिन हो रही है। इतनी कठिनता तो अन्य किसी दर्शनमें न मिलेगी। कथा है, कहानी है, चरित्र है, स्वरूप है, इसने किया, उन्होंने किया। देखें इस सूत्रमें दो पद हैं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि और दूसरा पद है ज्ञानं। इसका क्या यह अर्थ है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन पांच ज्ञानोंका जो समूह है उसे कहते हैं ज्ञान। क्या यह अर्थ आपको जंच रहा है या यह अर्थ जंच रहा है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है, केवलज्ञान ज्ञान है, ये दो बातें सामने रख रहे हैं। आपको क्या जंच रहा है? देखो यदि समूह अर्थ लिया जाये कि इन ५का जो समूह है वह ज्ञान है, इसमें कितनी आपत्तियां आती हैं? ५ ज्ञानोंका समूह क्या किसीमें मिलेगा? और जब न मिलेगा तो इसके मायने हैं कि जीव ज्ञान वाला नहीं है। केवलज्ञान तो ऐसा है कि जहाँ चार मिलेगा तो इसके मायने हैं कि जीव ज्ञान वाला नहीं है। केवलज्ञान तो ऐसा है कि जहाँ चार ज्ञान होते ही नहीं है, केवल

एक ही रहता है केवलज्ञान। तो केवलज्ञान फिर ज्ञान न ठहरेगा, क्योंकि जब यह अर्थ लगायेंगे कि ५का जो समूह है सो ज्ञान है तो ठीक बैठा तो नहीं।

एक आत्मामें संभावित चार ज्ञान होनेपर भी उपयोगकी अपेक्षा एक समयमें एक ही ज्ञान हो सकनेसे ज्ञान समूहको ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति प्रथम चार ज्ञानोंमें अगर कहा जाय मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, इनका जो समूह है सो ज्ञान है। तो यहाँ भी ठीक नहीं बैठता। सभी जीव चार ज्ञानके धारी नहीं होते। कोई तीन ज्ञानके धारी होते, कोई दोके भी, एक बात। दूसरी बात यह है कि जिनके दो ज्ञान भी हैं, तीन हैं या चार हैं, उनके भी उपयोगमें केवल एक ही ज्ञान होता है। लब्धिकीकी अपेक्षा चार ज्ञान तक रह सकेंगे, मगर उपयोगकी अपेक्षा तो एक ही ज्ञान रहता है। जब कोई अवधिज्ञानका उपयोग कर रहा है तो अवधिज्ञान ही है, तीन ज्ञान नहीं हैं उपयोग में। जब मतिज्ञानका उपयोग किया जा रहा है तो मतिज्ञान ही है, शेष ज्ञान नहीं। लब्धि अपेक्षा तो शेष ज्ञान है, मगर उपयोगकी अपेक्षा प्रति समय किसी भी जीवको एक जीवको एक ही ज्ञान होता है, और इतना ही नहीं, एक ज्ञानमें भी जो विषय जाना है उनके भेदसे जिस विषयको लेकर ज्ञान हो रहा है उस विषयका ही ज्ञान है। शेष ज्ञान लब्धिमें पड़े हुए हैं। जैसे एक मतिज्ञान है, वह ५ इन्द्रिय और मनके द्वारा जानता है। उसकी ६ विधियाँ हैं, पर जिस समय यह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जान रहा है उस समय उसका उपयोग उस ही ज्ञानमें है। आपको ऐसा लग रहा होगा कि इस समय तो हम सुन भी रहे हैं, देख भी रहे हैं और कुछ छू भी रहे हैं, बहुत-से ज्ञान कर रहे हैं, कैसे कहा जा रहा है कि इस इन्द्रिय ज्ञानमें भी जिस इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा उस समय वही उपयोग है, दूसरा उपयोग नहीं। तो आपकी तो यह शंका हुई और हम आपको यह बात रखें कि यह तो बतलावें कि आप जो सोच रहे हैं कि एक ही बार में, एक ही समयमें हमने ये अनेक ज्ञान कर लिये, तो आप इस समय जानते हैं क्या कि एक समय कितना कहलाता है? एक चुटकी बजायी तो उसमें अनगिनते समय होते हैं। उनमेंसे क्या आप एक समयमें सब कर रहे हैं? अरे वे बहुत समय हो जाते हैं। तो ऐसा ही लगता है कि हम एक साथ सब कर रहे हैं। देखो कभी आप लोग तेलमें बेसनकी पपड़ियाँ बनाते हैं कड़ी-कड़ी और पूरी साबुत एक पपड़ी लेकर खाने बैठते, टुकड़े करके नहीं, करते ही हैं बच्चे लोग ऐसा। कड़ी-कड़ी पपड़ियाँ उठाकर खाने लगे, तो देखो उस समय चरचर हो रहा तो कठोर स्पर्शका ज्ञान भी हो रहा, हाथमें ले रहे कि यह जान रहे कड़ी-कड़ी है। स्पर्शका भी ज्ञान कर रहे, और घीकी बास तो तनिक देरमें जाना जाता, मगर तेलकी बास तो तुरन्त खूब जान जाते। तो देखो गंधका भी ज्ञान कर रहे, रसका भी ज्ञान हो रहा है, और आँखोंसे भी देख रहे तब ही तो हमने खस्ता पपड़ियोंकी बात कही, और कड़ककी कड़कड़ आवाजके शब्द भी सुनाई दे रहे हैं। तो यहाँ मोटे रूपसे ऐसा लगता है कि पाँचों ज्ञान एक साथ एक समयमें हो रहे हैं, पर एक समयमें नहीं होते। वह समय बहुत सूक्ष्म चीज है। अनगिनत समयोंमें वह सब होता रहता है, मगर वह सब चल रहा है उपयोग भ्रम वाला। जानते हैं वहाँ भी क्रमसे कभी इसे, कभी उसे। तो ऐसे

ही एक विज्ञानमें भी जब आपका स्पर्शइन्द्रियका उपयोग चल रहा है, स्पर्शका ही उपयोग है, अन्यका सब लब्धिरूप है, तो यह बात नहीं कह सकते कि इन ५ ज्ञानोंके समूहको ज्ञान कहते हैं। इसमें तो बाधा है। तब यह कहना चाहिए कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान ज्ञान है। इसको यों समझिये कि जो यहाँ ज्ञान शब्द लगाया है तो यह समूह अर्थमें नहीं लगा, किन्तु प्रत्येकमें लगा। कई बातें ऐसी होती हैं कि समूहपर लागू होती हैं, कई ऐसे वाक्य होते कि जो प्रत्येकपर लागू होते। जैसे मानो किसी मौहल्लेके लोगोंने अपनी गली बहुत गन्दी कर रखी तो वहाँ यह आदेश होता कि इस मौहल्ले वालोंपर १०० रुपये जुर्माना। तो उसका क्या अर्थ है कि सभी लोग १००-१०० रुपये दें? वह एक सामूहिक बात है। अगर कोई कहे कि इस मौहल्ले वालोंकी पंगत करो तो क्या वह खाना सामूहिक होगा? वह तो प्रत्येक व्यक्तिका अलग-अलगमें होगा। कहा दो व्यक्तियोंका नाम लेकर कि फलाने चंदको, फलाने लालको, अमुक प्रसादको भोजन कराओ तो प्रत्येकके साथ भोजन क्रिया लगेगी। तो जैसे इस भुजि क्रियाका सम्बन्ध प्रत्येकके साथ लगा उसी प्रकार यहाँ मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय व केवल प्रत्येकके साथ ज्ञान शब्द लगेगा। इतना निर्णय हो गया। अब यहाँ एक बहुत विकट समस्या आती है, एक दार्शनिक समस्या कि भाई ज्ञान शब्द तो सामान्य है और ये ५ हैं विशेष। क्या एक सामान्य इन ५में एक साथ प्रवेश कर जायेगा? इस संबंधमें एक बहुत विस्तृत शंकाका समाधान होगा जो एक दार्शनिक विषय है, और इसमें आपको कई उपयोगी बातें भी मिलेंगी, जिनका वर्णन आगे करेंगे।

सामान्यकी अनेकव्यक्तिव्यापिता “मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” इस सूत्रमें जो दो पद दिए हैं उनसे क्या जाहिर होता है, इस समस्यापर विचार चल रहा है। एक अर्थ तो यों हो सकता है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इन ५ ज्ञानोंका समूह ज्ञान कहलाता है, और एक अर्थ यह हो सकता है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान भी ज्ञान है। इन दो मेंसे यह तो अनिष्ट अर्थ है कि इन ५का समूह ज्ञान है और इष्ट यह है कि यह भी ज्ञान, यह भी ज्ञान, ये ५ प्रत्येक ज्ञान हैं। ज्ञान शब्द इन ५में प्रयुक्त होगा। यहाँ ज्ञान तो सामान्य है और ये ५ विशेष हैं। सामान्य अपने अनेक विशेषोंमें रहा करता है। तो प्रत्येक विशेषमें सामान्यकी बात बतायी जायेगी। जैसे मनुष्य सामान्य और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या जो-जो भी और बातें बतायी जायें मद्रासी, हिन्दुस्तानी, अमेरिकन, रसियन आदिक, तो रसियन भी मनुष्य, अमेरिकन भी मनुष्य और हिन्दुस्तानी भी मनुष्य। और मनुष्य है एक सामान्य शब्द। तो देखो मनुष्य सामान्य अपने विशेषोंमें रहा अथवा जैसे स्वर्णके कई आभूषण हैं कड़ा, कुण्डल आदिक। तो कड़ा भी स्वर्ण है, कुण्डल भी स्वर्ण है। तो स्वर्णसामान्य अपने विशेषोंमें रहता है, इसी तरह ज्ञानसामान्य अपने विशेषोंमें याने मति, श्रुत आदिक ५ भेदोंमें मिलते हैं।

सामान्यकी कथंचित् एकरूपता व कथंचित् अनेकरूपता होनेसे अनेकस्वाश्रयताकी सिद्धि ज्ञाना सामान्यकी अनेकज्ञानव्यापकताकी बात सुनकर एक शंका आ सकती है कि इस तरह तो सामान्य

अनेक हो जायेंगे। मतिज्ञानमें भी ज्ञान सामान्य है, श्रुतज्ञानमें भी ज्ञान सामान्य है सभी प्रत्येकमें सामान्य ज्ञान है। तो यों सामान्य अनेक हो जायेंगे। तो उत्तर यह है कि हो जाने दो, कथंचित् सामान्य अनेक है, कथंचित् एक है। इनमेंसे एक किसी पक्षका हठ किया जायेगा तो उससे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। जैसे अगर वैशेषिकोंकी तरह यह एकान्त कर लिया जाये कि सामान्य एक ही होता है और अनेक अपने विशेषोंमें रहते हैं तो पहली बात तो यह है कि जो सर्वथा एक है वह अनेकमें एक साथ कैसे रह सकता है? जैसे एक परमाणु अनेक स्कंधोंमें एक साथ कैसे रह सकता है? इसी तरह सर्वथा एक सामान्य अनेक विशेषोंमें कैसे रह सकता है? दूसरी बात यह जानें कि यदि सामान्य सर्वथा एक ही कहा जाये तो जैसे मनुष्य सामान्य है, अगर उसको एक ही कहा जाये सर्वथा तो जैसे मनुष्य बिखरे बैठे हैं दो-दो हाथके अन्तरसे तो मनुष्यसामान्य तो एक है, अब इस व्यक्तिमें मनुष्य सामान्य है और जो बीचमें अन्तराल पड़ गया वहाँ मनुष्यसामान्य है कि नहीं, यह बताओ? अगर कहो कि उस अन्तरालमें मनुष्यसामान्य नहीं, उसे छोड़कर जो आगे बैठा है उसमें है मनुष्य सामान्य है तो सर्वथा एक मनुष्य सामान्य तो न रहा। अच्छा कोई यदि इस बातपर हठ करे कि सामान्य तो सर्वथा अनेक ही मान लें, जितने आदमी हैं उतने ही सामान्य हैं, तो ऐसा अगर अनेकपनेकी बात मानेंगे तो समानता फिर न रहेगी। तो समानता क्या, सामान्य क्या? तो सामान्य स्वरूपतः एक है और व्यक्तियोंमें रहनेकी अपेक्षा अनेक है।

ज्ञानसामान्यकी स्वरूपतः एकता व अनेक स्वाश्रयकी अपेक्षा अनेकता अब कुछ थोड़ी गहरी चर्चा आयेगी, मगर ऐसा समझो कि गहरी चर्चा भी सुनें, सरल भी सुनें तो उससे एक लाभ होगा कि गहरी चर्चा सुननेपर थोड़ा तो कुछ बोध होगा, कुछ न होगा तो यह तो ध्यानमें आयगा कि जैन शासनमें कितने गहन तत्त्वोंका स्पष्टीकरण है? दूसरी बात गहन विषय रोज-रोज सुननेपर सरल भी हो सकता है। तीसरी बात अतीव सरल सरल सुन करके लाभ क्या पावोगे? बात तो तत्त्वकी, मूलकी समझनी होगी। तो सब तरहकी बात समझनेका चित्तमें साहस रखें। सामान्य ज्ञानसामान्य है और ये ५ हैं ज्ञानविशेष। ज्ञानसामान्य इन ५ ज्ञानोंमें रहता है अर्थात् यह भी ज्ञान है, यह भी ज्ञान है, ऐसी जो प्रतीति रहती सबको वह सिद्ध करती है कि सामान्य कथञ्चित् अनेक है, कथञ्चित् एक है। सर्वथा एक माननेपर जो सामान्यके अनेक आश्रय हैं, जिन विशेषोंमें व्यक्तियोंमें वह रहता है उनमें एक साथ रह सकनेकी बात कैसे बनेगी? और अगर कहो कि हम तो सामान्यको सर्वथा एक ही मानेंगे और वह क्रम-क्रमसे रहेगा सबमें तो जिस वक्त मनुष्यपना रसियनमें रहा तो उस समय बाकी लोगोंमें मनुष्यत्व बन ही न पायगा और फिर सामान्यका यह स्वरूप ही नहीं है। सामान्यका अभाव हो जायेगा। सामान्य उसे कहते हैं जो एक होकर भी अनेकमें एक साथ रहें। सो भैया! सामान्य एक तो है स्वरूपकी अपेक्षा और अनेक है आधारकी अपेक्षा। चूँकि उनका आधार, उनका आश्रय वे नाना हैं, इसलिए सामान्य कथञ्चित् बहुत हैं और चूँकि स्वरूप सबका एक है, तो स्वरूप दृष्टिसे सामान्य एक है। यहाँ एक शंका न रखना कि एक होकर बहुत कैसे हो

जायेंगे? जो एक है तो एक है, जो अनेक है सो अनेक है। एक होकर भी अनेक बने, इसका क्या मतलब? इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्यपना तो एक है ना, मनुष्यके स्वरूपोंमें तो अन्तर नहीं है ना, इस अपेक्षासे तो एक है और वह बहुत व्यक्तियों में रहता है तो इस व्यक्तिमें भी मनुष्यपना है, इस व्यक्तिमें भी मनुष्यपना है और क्यों जी, बीचमें जो समुद्र पड़े हैं वहाँ एक भी मानो मनुष्य नहीं पाया जाता तो क्या वह एक टूट गया क्या? जो एक होता है वह तो अखण्ड होता है। एकका स्वरूप क्या है? जो अखण्ड हो उसे एक कहते हैं। जैसे टेबिल रखी है, बतलाओ यह एक द्रव्य है कि अनेक? मोटे रूपमें कहेंगे कि एक चौकी है। अरे वस्तुतः देखो तो अनेक परमाणुओंका यह पिण्ड है, और तभी तो इसके टुकड़े हो जाते हैं। एक तखत चोर दिया तो दो हो गए, फिर चार हो गए, फिर अनेक हो गए, फिर उनके भी अनेक हिस्से करते जाइये। एकका कभी टुकड़ा नहीं होता। जो वास्तवमें एक है उसका कभी दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता। १०० पैसोंका रुपया है तो रुपया अनेक वस्तु है, उसमें १०० पैसे हैं, और मानो व्यवहारमें अगर उस पैसेके खण्ड भी होते तो जैसे पहले छदाम दमड़ी होती थी, छोटेसे भी छोटा नाम हो उसका खण्ड नहीं होता। उसे एक यूनिट मान लेते हैं, एकके खण्ड नहीं होते। सामान्य यदि एक ही है तो उसके टुकड़े न होना चाहिए। इसलिए सामान्य प्रदेशतः एक नहीं है, किन्तु स्वरूपतः एक है और वह एक बहुत व्यक्तियोंमें तादात्म्य रूपसे रहता है, वह बहुत व्यक्तियोंमें यों ही नहीं रहता। रसियनका मनुष्यके साथ तादात्म्य है। यह नहीं है कि उसमें मनुष्यपना घुसा है इसलिये रसियन मनुष्य कहलाते हैं। विशेषमें सामान्यका तादात्म्य है। उन व्यक्तियोंमें सामान्यका तादात्म्य है। तो इसी प्रकार जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं। इन ज्ञानोंमें ज्ञान सामान्यका तादात्म्य है। अब इस समय थोड़ा ५-७ मिनट कुछ समझमें न आये तो भी धैर्य धारण करके सुनना।

सामान्यविशेषात्मक माननेमें तादात्म्य अतादात्म्यका प्रसंग बनाकर उठाई गई शंका और उसका समाधान इस प्रसंगमें एक गहरी समस्या आती है। शंकाकार यहाँ यह कह सकता है कि देखो जब एक सामान्य अनेकमें रह गया तो जैसे रसियनमें भी मनुष्यका तादात्म्य है, इंडियनमें भी। तो देखो मनुष्यका तादात्म्य रसियनमें है। जिस स्वरूपसे तादात्म्य उसमें है, उस स्वरूपसे तादात्म्य इंडियनमें तो नहीं है। तो जिस स्वरूपको लेकर इस सामान्यका व्यक्तिमें तादात्म्य नहीं है और जिस स्वरूपको लेकर सामान्यका व्यक्तिमें तादात्म्य है वे दोनों स्वरूप व्यक्तिसे भिन्न हैं या अभिन्न? सामान्यसे भिन्न हैं या अभिन्न या परस्पर वे दोनों भिन्न हैं या अभिन्न हैं? यह शंका रख दी। देखो कभी भी किसीका मुख बंद करना हो चर्चामें तो उसके सामने एक प्रश्न यह रख दिया करो कि बताओ यह इससे भिन्न है कि अभिन्न है? स्याद्वादी तो उसपर विजय पा जायेंगे, मगर एकान्तवादी तो वहाँ पराजित हो जायेंगे। समाधानमें सोचिये ऐसी शंका करने वाले अभी अनभिज्ञ हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिस स्वरूपको लेकर भेदका व्यवहार किया जा रहा है, भेद कहीं अन्यत्र नहीं दिखता है, उस स्वरूपका ही नाम भेद है याने भेददृष्टिसे सामान्य की बात बतायी गई हैं। यहाँ तादात्म्य

है, यहां नहीं है, और जिस दृष्टिसे अभेदकी बात कही है वह स्वरूप अभेद है, पर एक बात तो बतायें शंकाकार कि शंकाकारने भेद और अभेदकी शंका उठा कैसे दी? मालूम होता है कि शंकाकार भेद और अभेदको स्वीकार तो कर रहा है तब ही तो उस आधारपर शंका की। तो यह बात सुनकर शंकाकारका दिल दहल गया। हमपर विपत्ति डाल दी। तो उसने कहा कि हम भेद-अभेद इन दो बातोंको नहीं मानते, किन्तु दूसरे लोग मानते हैं, उनके माननेके आधारपर हम शंका कर रहे, तो कहा वाह, दूसरेके माननेके आधारपर बात कर रहे हो तो दूसरेका मानना स्वीकार है कि नहीं? अगर स्वीकार है तो झगड़ा मिटा, और अगर नहीं स्वीकार है तो फिर झगड़ा नहीं कर सकते। बात यह है कि एक ही जगह सामान्य और विशेष दोनों ठहरे रहते हैं। एक ही आदमीमें मनुष्यसामान्य और व्यक्ति-विशेष ये दोनों बराबर हैं, उनमें कोई दोष नहीं आता। कोई कहे कि सामान्य और विशेष, जिनका स्वरूप जुदा-जुदा है तो ये एक साथ ठहर कैसे जायेंगे? अरे उनमें विरोध ही नहीं है। वस्तु एक है, जीव एक है, मगर उसमें नित्यपना भी है, अनित्यपना भी है ये दोनों एक साथ कैसे ठहर गए? ठहर गए, कोई विरोध नहीं। नित्य अनित्य विरोधी है या अविरोधी? कथञ्चित्! विरोधी है, कथञ्चित् अविरोधी। एक वस्तुमें मिल गए इसलिए अविरोधी और स्वरूप उनका भिन्न-भिन्न इसलिए विरोधी। तो कहते हैं कि विरुद्ध धर्मका एक वस्तुमें अवस्थान होनेको अनेकांत कहते हैं। यहाँ न अनवस्था दोष है, न विरोध आता है, न भिन्न-भिन्न आधार माननेका प्रसंग आता है। ठीक सीधे प्रतीति हो रही है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। यह भी एक विशेष है अन्यथा वस्तु तो अवक्तव्य है, जो है सो है, पर ऐसा कहनेसे गुजारा तो नहीं चलता है।

व्यवहारके बिना प्रतिपादन न हो सकनेसे तीर्थविच्छेदकी आपत्ति व्यवहारके बिना कुछ भी गुजारा नहीं चल सकता। बस एक वस्तुको मानते जावो अवक्तव्य अवक्तव्य, तो क्या समझोगे? क्या समझाओगे? कहाँ चलोगे? व्यवहारका आश्रय लेना ही होगा। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। जितना प्रतिपादन होता है वह व्यवहारसे ही होता है। परमार्थ गूंगा है। वह प्रतिपादन नहीं कर सकता। वह तो एक लक्ष्यमें आनेका तत्त्व है। जितनी प्रवृत्ति है तीर्थ प्रवृत्ति, जितना धर्मका प्रवाह है, जितनी परम्परा है वह व्यवहार द्वारा चलती है। परमार्थका प्रतिपादक होता है व्यवहार। परमार्थ स्वयं अपना प्रतिपादक नहीं हो सकता। वह तो शुद्ध नयका विषय है, अखण्ड है, अवक्तव्य है। तो यह भी व्यवहार है कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। मगर यह बतलाओ कि क्या यह बात असत्य है? है नहीं क्या सामान्य रूप आत्मा? है नहीं क्या विशेषरूप आत्मा? नहीं है, ऐसा निषेध करके उस सामान्यविशेषात्मक विकल्प से अतिक्रान्त होकर अवक्तव्य तत्त्व में आने का पात्र न होगा। जो समझा वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, अब उसमें विशेषको गौण कर सामान्यको मुख्य कर और आगे बढ़ते हैं तो सामान्य जब विकल्पसे छूटता है तो दोनोंसे अतिक्रान्त होकर केवल एक शुद्ध ज्ञान मात्र स्थितिका अनुभव करता है। तो वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। हर जगह घटाते जाओ। इसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती।

अभेद और भेदके आधारपर द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नयका समर्थन देखो मूलमें नय दो होते हैं (१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय। इनका लक्षण यह बताया गया है कि जिसका प्रयोजन द्रव्य हो सो द्रव्यार्थिक नय, जिसका प्रयोजन पर्याय हो सो पर्यायार्थिक नय। ऐसा लक्षण क्यों कहा? तो इन नयोंके द्वारा जो कुछ है भी खोज करनेकी प्रचुरता है वह इसी विधिसे है, कि द्रव्यको देखो, पर्यायको देखो, पर इन नयोंकी मूल मंशा क्या है? इनकी मूल मंशा है अभेद और भेद। द्रव्यार्थिक नयका विषय है अभेद और पर्यायार्थिक नयका विषय है भेद। और देखो यह नयचक्र बड़ा गहन है, इसका पार पाना कोई एक सामान्य गणोंसे नहीं बनता। कभी पर्याय भी द्रव्यार्थिक नयका विषय हो जाता है, कभी द्रव्य भी पर्यायार्थिक नयका विषय हो जाता है। कैसे? देखो जो कथन आये जो प्रसंग हो, वह प्रकरण, वह मूड इन नयोंकी जान बनाता है। ये नय खुद अपनी जान लिए हुए नहीं हैं। आशय ही नयोंके प्राण बनाता है। जिस समय हम वस्तुमें एक समयकी पर्याय निरख रहे हैं तो वह पर्याय बतलाओ अखण्ड है कि नहीं? उस समयमें और उसी अखण्ड पर्यायको जब हम भेद करके यह निरखेंगे कि यह ज्ञानगुण, दर्शनगुण व आनन्दगुणकी पर्याय। जैसे स्वभावमें भेद करके गुण निरखे गए थे ऐसे ही एक समयकी अखण्ड पर्यायके भेद करके यह अमुक गुणकी पर्याय, यह अमुक गुणकी पर्याय, ऐसा भेद देखेंगे तो सामने दो बातें आयेंगी अखण्ड पर्याय और नाना पर्यायें। तो अखण्ड पर्याय तो है द्रव्यार्थिक नयका विषय और नाना पर्याय है पर्यायार्थिक नयका विषय। उन नयोंका मूल आशय समझना चाहिए। इन नयोंका आशय है अभेदनय और भेदनय। षड्खंडागममें सामान्य विवरणको द्रव्यार्थिक नय कह दिया और विशेष कथनको पर्यायार्थिक नय कह दिया, जहाँ सामान्य विवरणके बाद विशेष विवरण दिया। जैसे पहले यह कह दिया जाये कि “ज्ञान पांच प्रकारके हैं” और फिर कहा जाये “मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान” और वहाँ कोई शंका करे कि “ज्ञानं पञ्चविधम्” इससे ही सब जान लिया, फिर नामप्ररूपक सूत्र बोलनेकी क्या जरूरत, तो समाधान होगा कि द्रव्यार्थिकनयकी रुचि वाले शिष्योंको पहला कथन दिया है, अब पर्यायार्थिक नयकी रुचि वालोंको अगला कथन करते हैं। अच्छा, मानो कि सत्, सत्में देखिये सर्व पदार्थोंका संग्रह आ गया। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और ये समस्त अनन्त पदार्थोंका समुदाय एक सत्में आ गया। सत् कहा और अब हम करते हैं उसका भेद। जीव पुद्गल अणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य करें, भेद एक सामान्य-सामान्य रूपसे ही, पर्यायको लेकर न करें, द्रव्यको लेकर कर लिया जाये तो अब यहाँ दो बातें सामने आयीं (१) सत् और (२) जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि ऐसी ६ बातें रखें। तो देखो सत्का जानना तो हुआ द्रव्यार्थिक नय से और उन ६ द्रव्यों का जानना हुआ पर्यायार्थिक नयसे। अब बतलावो उन ६को पर्याय रूपसे हाजिर नहीं कर रहे, हम कर रहे द्रव्यरूप से हाजिर, लेकिन यह भेद बनता वह अभेद है। जो अभेद है वह द्रव्यार्थिक और जो भेद है वह पर्यायार्थिक।

अभेदनय और भेदनय इन मूल दो नयोंके आधारपर समस्त प्ररूपण नयोंको पहिचाननेकी नीतिका आधार अभेद और भेद है, द्रव्य और पर्याय नहीं। हाँ, द्रव्य और पर्याय जब सामने रखते हैं तो वहाँ द्रव्य अभेद है, पर्याय भेद है, इसलिए द्रव्यका बताना द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायका बताना पर्यायार्थिक नय है। यह नय ऐसा एक समझाने वाला नय है कि जैसे परोपकार करनेकी जिसमें धुन सवार हो, मनुष्यमें तो जैसे वह मनुष्य अपना कुछ न देखकर मुझे यह आफत आ गई कि यहाँ मैं पकड़ा जाऊँगा, मैं बरबाद हो जाऊँगा, मेरा यहाँ विनाश हो जायेगा, वह मनुष्य यह कुछ न देखकर अपनी धुनके अनुसार सबके उपकारमें लगा रहता है, ऐसे ही यह नय ऐसा उपकारी है कि यह अपना विनाश भी नहीं देखता और यह भव्य जीवोंको समझानेमें इस तरह लगा रहता है। अभी देखो ना, जब बोला कि सत् तो यह है द्रव्यार्थिक नय से, और ६ द्रव्य हैं पर्यायार्थिक नय से। क्या जीव, यह पर्यायार्थिक नय है? और बोल रहे जीवद्रव्य, मगर जब जीवद्रव्य और जीवके ज्ञानादिक गुण जब ये दो बातें सामने रखेंगे तो पर्यायार्थिक नयने जिस जीवद्रव्यका समर्थन किया था अब यह पर्यायार्थिक नय गुणोंका समर्थन करेगा और द्रव्यार्थिक नय जीवद्रव्यका समर्थन करेगा। तो नयोंकी बात किसी एक जगह जो लगावेंगे उसकी अपेक्षा कोई भेद या अभेद दीखा व नय बदलकर दूसरेका समर्थन करने लगेगा। किसी एक जगह बोलकर उसीको पकड़कर रहेगा। तो वहाँ विसंवाद होता है। निर्विवादिता तो ज्ञानकलापर निर्भर है। यह नय तो यों निरन्तर नाच ही रहा है। जैसी दृष्टि करे वैसा नय खड़ा, जैसा आशय बनाया वैसा नय खड़ा। यह नयचक्र बड़ा गहन जंगल है। यों सामान्य रीतिसे इसका पार न पायेंगे। इसके लिये गहन तत्त्वाभ्यास, गुरुचरणप्रसाद व निष्पक्ष मनन चाहिये।

ज्ञानसामान्य बिना ज्ञान विशेषोंका अभाव और ज्ञानविशेष बिना सामान्य ज्ञानका अभाव हो जानेसे ज्ञानके सामान्य विशेषात्मकताकी तरह सर्वत्र सामान्य विशेषात्मकताकी सिद्धि यहाँ मूल चर्चा चल रही है ज्ञान और इन ५ विशेषों की। याने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये ५ विशेष ज्ञान हैं, और सभी जगहोंमें सभी पदार्थोंमें आप निरखते जाओ, सर्वत्र सामान्य विशेषात्मकताका परिचय मिलेगा। केवल सामान्य ही हो, विशेष झूठ हो, ऐसा सामान्य कुछ नहीं है, केवल विशेष हो, सामान्य कुछ न हो तो विशेष कुछ नहीं। देखो जिस घरमें जब झगड़ा हो जायेगा और जिससे दिल लग गया तो वह आदमी कहता है कि तो यह ही और बाकी तो है ही नहीं। बाकी मर गए क्या? अरे रह तो रहे घर में। अब तुम्हारा जिस तरफ दिल लगा तो कहते कि बस सत्ता तो है इसकी, बाकी तो मर गए। तो मर तो नहीं गए। अरे भाई, तुम्हारा दिल इस ओर लगा है तो लगा लो दिल, मगर मर गएका ख्याल न करो। वे हैं, जिन्दा हैं, पर तुम्हारी दृष्टि इस ओर है सो प्रधान बन गया, और हमको हित यहाँ मालूम पड़ता है तो प्रधान बन गया। तब ही तो आचार्योंकी पद्धति यह रही कल्याणमें बढ़नेकी कि व्यवहारका विरोध न कर निश्चयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करके, फिर निश्चयसे भी अतिक्रान्त होकर अनुभवमें पहुंच जाना। तो देखो

सामान्य विशेषात्मकताके बिना वस्तुकी सत्ता नहीं होती। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, इसमें कोई बाधक नहीं है। यहाँ तक आये।

सामान्यमात्रपरिच्छेदक या विशेषमात्रपरिच्छेदक ज्ञानकी संभवता न होनेसे वस्तुकी सामान्यविशेषात्मकताकी सिद्धि अब कोई शंकाकार कहता है कि सुनो अभी मामला खत्म न करो। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। इसमें बाधक प्रमाण है केवल सामान्य मात्राका ज्ञान करने वाला हमारा ज्ञान उसमें बाधक है। ऐसा कोई सामान्यको मानने वाला कह रहा है तो कह दो कि तुम अपनी मान्यता अपने घरमें रखो, इसे कोई भी समझदार नहीं मान सकता। केवल सामान्यमात्र कोई वस्तु होती ही नहीं। सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें सामान्यको मुख्य करके जो बोध होता है उसको कहते हैं सामान्यका ज्ञान। सामान्यका ज्ञान करते समय केवल सामान्यका ज्ञान नहीं हो रहा, सामान्यविशेषात्मक वस्तुका सामान्यकी प्रधानतासे ज्ञान हो रहा, उसका अर्थ यह है। तो कोई एक वैशेषिक एकान्तवादी दार्शनिक बोलते हैं, ठहरो, विशेषको जानने वाला जो ज्ञान है वह इस बातका बाधक है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। वस्तु तो केवल विशेष-विशेष मात्र है। तो कहते हैं कि तुम अपनी बात अपने मनमें रखो। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो केवल विशेष रूप हो और सामान्य रूप न हो। देखो जब कभी किसी वस्तुमें विशेष आशंका बोध हो रहा है तो यह न समझो कि मात्र केवल विशेष बोध हो रहा किन्तु सामान्यविशेषात्मक वस्तुका विशेष धर्मकी मुख्यतासे बोध हो रहा। अब देखो यह बात यों कुछ जल्दी समझमें आयगी। इसी मोक्षशास्त्रमें द्वितीय अध्यायमें जब कहा है कि मतिज्ञान इन १२ प्रकारका ज्ञान कराता है तो वहाँ झट आगे कह दिया अर्थरूप जो पहले कहा है याने इन बारह प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होता है सो बहु आदिका अलगसे ज्ञान नहीं होता। कोई केवल अलगसे बहु आदिका ज्ञान कर सकता क्या? कोई इन आदमियोंको जाने नहीं और कह दे कि बहुत हैं। तो कोई पदार्थसे अलग समझ सकता है क्या? एकको या बहुविधको या किसी प्रकारको या मनुष्यसामान्यको? नहीं। सभी ज्ञान पदार्थको ही जानते हैं। जो कोई जानता है वह कोई अलगसे गुणको नहीं जान सकता, न अलगसे पर्याय जान सकता, न कोई अलगसे द्रव्य जान सकता, न अलग से कोई विशेष जान सकता, किन्तु पदार्थ ही इस-इस रूपमें जाननेमें आ रहा है।

ज्ञानविषयकी सामान्य विशेषात्मकताकी भाँति ज्ञानकी भी सामान्य विशेषात्मकता प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। ज्ञानका विषय न सामान्य है, न विशेष है। जाना जा रहा है सामान्य विशेषात्मक पदार्थ और उसको जब इस सामान्यकी प्रधानतासे जानते हैं तो हमारे ज्ञानमें सामान्य आ रहा। उस ही वस्तुको जब हम विशेषकी प्रधानतासे जानते हैं तो हमारे ज्ञानमें वह विशेष आ रहा है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही होता है। तो प्रमाणमें क्या बात लेनी है कि ये मति, श्रुत, अवधि आदिक ५ ज्ञान ये वानात्मक हैं और ज्ञान इन ५को छोड़कर अलग कहीं रहता नहीं। सामान्य विशेषव्यापी होता है। तो वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। यहाँ यह निर्णय रखना चाहिए। देखो आप भी सामान्यविशेषात्मक हैं, हम भी सामान्य विशेषात्मक हैं और सिद्ध भगवान

ये भी सामान्य विशेषात्मक हैं। निगोद जीव, ये भी सामान्यविशेषात्मक हैं। अज्ञानी, ये भी सामान्य विशेषात्मक हैं। ज्ञान, यह भी सामान्य विशेषात्मक है। और सामान्य परखनेकी पद्धति है अभेद तथा विशेष परखनेकी पद्धति है भेद। अब अभेद एक दृष्टिसे जो समझमें आया वह है सामान्य तथा विशेष दृष्टि से, भेद दृष्टिसे जो समझमें आया सो है विशेष। पदार्थ तो जो है सो है, अवक्तव्य है, हर प्रकारसे परिचय करनेके बाद वस्तु जब समझमें आती है तब विकल्प न करके केवल उस वस्तुको भी हम वचनोंसे बोलते जायें तो वह खण्ड ही हो रहा। वचनोंसे अखण्डका ज्ञान नहीं, किन्तु उसका परिचय होनेपर सर्वनयवाद प्रमाण सब अतिक्रान्त हो जाये और एक केवल स्व निज लक्ष्य रहे तो निजकी अखण्डता उसको मालूम पड़ती है। तो यहाँ इस प्रकरणमें ज्ञान सामान्यके ५ विशेष बताये जा रहे हैं।

प्रकृत सूत्रके दोनों पदोंके साथ एवकारकी संभवता जिस प्रमाणके द्वारा वस्तुका परिचय होता है उस प्रमाणका विवरण चल रहा है। प्रमाण कहो अथवा ज्ञान कहो, ज्ञान ही प्रमाण है। उसका विवरण इस सूत्रमें किया गया है मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। अर्थ तो सामान्यतया यह है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह ज्ञान है। देखो साधारणतया कुछ भी बोलते हैं, पर बोलनेमें एवका अर्थ छिपा हुआ रहता है, याने निश्चयके साथ जो बात बोली जाती है उसमें एव भी न लगाया जाये तो भी वहाँ एव मानने जैसा ही अवधारण बना हुआ है। अवधारण बिना कोई व्यवहार नहीं होता। जहाँ कोई कहे कि बस अब हम मंदिर जाते हैं तो अवधारण तो हो गया, अब हम मंदिर जाते ही हैं, उसके अभिप्रायमें न जाने क्या पड़ा हुआ है कि अब ही हम मंदिर जाते हैं अब। हम ही मंदिर जाते हैं, अब हम मंदिर जाते ही हैं, अब हम मंदिर ही जाते हैं, इतने शब्द बोले कि उन शब्दोंके साथ ही लगानेसे जुदे-जुदे भाव हो जाते हैं। अब यहाँपर केवल हीकी ही एक जिज्ञासा हो रही है। हम अवधारण कहां कर रहे? इसका अर्थ क्या यह लगायें कि मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, ये ज्ञान ही हैं। इस तरह कहाँ एव लगायें। समाधान यह है कि दोनों जगह ही एव लग सकता है। जिस समय यह कहा कि मति, श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल ये ५ ही ज्ञान हैं, उससे किसका व्यवच्छेद हुआ कि भाई जो कुमति, कुश्रुत, कुअवधि है, यह ज्ञान नहीं है। जब कभी 'ही' लगता है तो किसी दूसरी बातका निषेध हुआ करता है। 'ही' निषेध करने वाला होता है अन्यका। तो जब यह कहा कि ये पांचों ही ज्ञान हैं तो उसका अर्थ यह है कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधि इनमें सम्यग्ज्ञानरूपता नहीं है। यह सूत्र है सम्यग्ज्ञानके विशेषको बताने वाला, और जब यह अवधारण करते हैं कि मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय, केवल ये ज्ञान ही हैं, यहाँ ज्ञान के, द्वितीय पदके आगे एवकार मानते हैं तो उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि इन ५में अज्ञानता जरा भी नहीं है। अज्ञानता होती है मिथ्यात्वके उदय होनेपर और ये जो ५ ज्ञान बताये गए हैं, ये होते हैं चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, ये तो चौथे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक होता है और केवलज्ञान १३वें,

१४वें गुणस्थानमें होता है और गुणस्थानसे अतीत जो सिद्ध प्रभु हैं उनमें भी होता है तो दोनों जगह अवधारणाकी बात बोल सकते हैं। यहाँ कोई यह आशंका न रखे कि ऐसा कैसे होगा कि दोनों जगह एवकार रह सके। उसमें विरोध तो तब होता कि एक जगह एवकार लगानेसे दूसरी जगह एव लगानेसे जो निश्चय होता उसका यहाँ विरोध करते तब तो विरोध हो। अगर ये एक-दूसरेका विरोध नहीं करते तो दोनों ही जगह अवधारण होता है। जैसे एक सूत्र है जो आगे द्वितीय अध्यायमें आयगा देवनारकाणाम् उपपादः याने देव और नारकियोंके उपपाद जन्म होता है। इसमें दोनों जगह 'ही' लग जायेगा। देव नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है तथा देव नारकियोंके उपपाद जन्म ही होता है और उन अर्थोंका कोई परस्पर विरोध नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। इस अवधारणसे क्या समझा कि यह सूत्र जो है वह सम्यग्ज्ञानके भेदको बताने वाला है, न कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधिरूप ज्ञानोंको भी और प्रमाण भी यह ही है क्योंकि जिस प्रमाणसे हम वस्तुकी जानकारी करते हैं उसी प्रमाणका वर्णन चल रहा है। कहीं कुज्ञानसे जानकारी तो नहीं होती और साथ ही यह भी यहाँ निश्चय हो गया कि यहाँ मिथ्यात्वका उदय नहीं है। यह ज्ञान मिथ्यात्वके विच्छेदके बाद ही बनता है। तब यहाँ तक इतनी बात निर्णीत हो गई कि ये ५ ज्ञान विशेष ज्ञान हैं।

मतिज्ञानका विवरण अब थोड़ा-थोड़ा इन ५ ज्ञानोंके विषयमें स्वरूप देखना। विशेष तब भी समझ लेंगे जब इसके भेद आयेंगे, इसके विषय बताये जायेंगे, वहाँ भी झलक आयगी। सो अब क्रमशः देखिये पहले क्या कहा गया? मतिज्ञान। देखो यह चर्चा दूसरेकी नहीं है हमारी आपकी खुदकी बात है। हम आप जितना जो कुछ जाना करते हैं रात-दिन वह मति और श्रुत द्वारा जानते रहते हैं। सर्वप्रथम इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो जाना गया वह तो मतिज्ञान है और उसके बाद उसके विषयमें जो विशेष समझा गया वह सब श्रुतज्ञान है। तो 'मति' इतना ही शब्द दिया है। इतना शब्द देनेसे मालूम होता है कि स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये सब भी मतिज्ञान कहलाते हैं। अब देखिये मतिज्ञानका इतना प्रखर विस्तार है कि जो ऐसा लग रहा है कि इसमें तो बड़ा विचार किया जाना है तब यह ज्ञान बनता है। वह भी मनोविषयक होनेसे मतिज्ञान कहलाता है। मतिके बारेमें प्रसिद्ध तो यह ही है कि जो इन्द्रिय और मनसे अभिमुख पदार्थको जाने सो मतिज्ञान, सो इसका नाम मति नहीं है। इसका नाम अक्षमति और दूसरा नाम धरो आभिनिबोधिक ज्ञान। जो अभिमुख व नियत विषयको जाने उसे कहते हैं आभिनिबोधिक ज्ञान। जैसे चक्षुके द्वारा रूप ही जाना जा सकता है अन्य कुछ नहीं। घ्राणके द्वारा गंध ही, कर्णके द्वारा शब्द ही और रसनाके द्वारा रस ही। इसमें इन्द्रियका विषय नियत है और यह नियत विषयको ही जानता है और सामने आया हुआ अभिमुख आये हुएको ही जानना है, इसलिए इसका नाम है दूसरा आभिनिबोद्धिक ज्ञान। यह सब ज्ञानकी चर्चा है। एक ज्ञानकी समस्या हल हो जाये तो सब हल हो जाये। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरे ज्ञानके ऐसे परिणामन होते हैं। इतनी ही बात तो समझनेकी है, वही यहाँ कहा जा रहा है। ज्ञान

सामान्यके मायने तो हैं वह एक ज्ञानशक्ति, ज्ञान स्वरूप और ज्ञान विशेषके मायने हैं कि इसका परिणमन इसकी परिणतियाँ क्या-क्या हुआ करती हैं?

वस्त्वंश सामान्य व विशेषका सामान्य विशेषात्मक वस्तुमें अभेद व भेददृष्टि द्वारा परिचय पदार्थमें सामान्य और विशेष कुछ अलगसे पड़े हुए नहीं हैं। पदार्थ तो पदार्थ ही है। जब हम सामान्य रूपसे देखते हैं तो हमें सामान्यका बोध होता है, विशेष रूपसे देखते हैं तो हमें विशेष बोध होता है। सामान्य स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। विशेष स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। जैसे कि द्रव्यत्व और गुण, पर्याय ये कोई स्वतन्त्र सत् नहीं हैं। एक अर्थ है, और उस अर्थको, उस ही पदार्थको जब हम भेद द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तो गुण समझमें आया। अंशग्राहक पर्यायार्थिक नयसे देखते हैं तो गुण समझमें आया। अंशग्राहक पर्यायार्थिक नयसे देखते हैं तो गुण समझमें आया। पर्यायका अर्थ केवल परिणमन ही नहीं है। पर्याय, भेद, अंश ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। तो जब हमने अंश देखा पर्यायार्थिक नयसे देखा तो गुण समझमें आये और जब हमने परिणमनवाचक पर्यायार्थिकनयसे देखा तो पर्याय समझमें आयी। कहीं वस्तुमें द्रव्यत्व स्वतंत्र सत् हो, गुण स्वतंत्र सत् हो, ऐसा नहीं है। अगर स्वतंत्र सत् है तो आप जानते हैं कि इसमें ६ साधारण गुण होते हैं अस्तित्व, वस्तुत्वादिक। तो क्या पर्यायमें ६ साधारण गुण हैं या पर्याय क्या उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है? तो यह ही लक्षण है सत्का उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। अगर गुण सत् है तो क्या वह उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है? अगर गुण सत् है तो क्या अस्तित्व आदिक साधारण गुण वाला है। उन गुणोंमें एक प्रदेशवत्त्व गुण आया तो क्या गुण प्रदेशवान् है, और क्या पर्याय प्रदेशवान है, क्या द्रव्यत्व, प्रदेशवान है? अरे वह अर्थ प्रदेशवान है, वस्तु प्रदेशवान है जिसमें हम नयोंके द्वारा द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व निरखते हैं? तो यह नयचक्र बड़ा गहन है और जिसको ज्ञान कलासे अपने आपमें ज्ञानकी लीला करनेका अभ्यास बन गया है अर्थात् एक वस्तुके परखनेके ज्ञानकी नीति-रीति भली प्रकार आयी है तब ही इस नयचक्रमें प्रवेश हो सकता है।

यह सब निश्चय और व्यवहार बदलते रहने वाली चीज है। जैसे जब हम बोलते हैं कि यह तो पर्याय दिखती मनुष्य, तह जीव है तो यह तो व्यवहार नयसे हुआ ना और इसकी तुलनामें द्रव्यार्थिक नयसे क्या हो गया याने निश्चयसे कि जो क्रोध, मान, माया, लोभका आधारभूत है ऐसा जो कोई जीव है वह जीव है। अब मुकाबला देखते जाना, जहाँ एक द्रव्य व्यञ्जन पर्याय रूपमें पेश किया गया, इस मनुष्यपर्यायको सामने रखा तो उसके मुकाबलेमें क्रोधी मानी, मायावी, लोभी जीव निश्चयनयका विषय बन गया, और जब इसके मुकाबले विचारादि वाले ज्ञानकी परिणतियों वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह है जीव, इसको रखा तो कषाय वाला जीव है यह व्यवहार नयसे बन गया और मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी जीव है यह निश्चय नयसे बन गया। और जब एक ज्ञानसामान्यको सामने रखा तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह व्यवहार नयसे कहा गया और ज्ञानसामान्य यह निश्चयनयसे कहा गया और जब एक अखण्ड चित्त्वस्तुको निरखा तो उसके सामने जीवमें ज्ञानस्वभाव है यह

व्यवहारनयका कथन बन गया और अखण्ड एक चिदात्मक वस्तु जो लक्ष्यमें आयी वह निश्चयका विषय बन गया। हां, शुद्धनय एक ऐसा है कि जो बदलता नहीं है, बाकीके निश्चयनय व्यवहार नय बदल जाते हैं। जैसे-जैसे उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टि मिलती जाती है वैसे ही वैसे निश्चय नय व्यवहार नय बनते जाते हैं, पर मूलमें जो शुद्ध नय है वह किसी भी समय व्यवहार नयका रूप नहीं रखता है, उसका विषय अखण्ड चिदात्मक वस्तु तो मूल तो सबका वही है। अब उपाधिसंसर्ग है तो इस उपाधिका जितना क्षयोपशम हो रहा है उतना यहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक ये प्रकट हो रहे हैं। देखो सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्महितकी आकांक्षा रखने वाला पुरुष इतना सुलझा हुआ है, इतना निर्विवाद होता है कि उसको कहीं शल्य, पक्ष, हठ, कषाय, आग्रह आदिक स्थान नहीं होता, क्योंकि उसके लिए सारा यह चैतन्यलोक, यह जीवलोक, परमात्मस्वरूपमें दिख रहा है। जिसे अपने आपके बारेमें निर्णय है कि हूं तो यह मैं सहज परमात्मतत्त्व रूप यहाँ अपराध कहाँ, यहाँसे विवेककार्य प्राप्त हो लेगा।

नयोंमें प्रतिपक्षनयकी बातमें विधि या निषेध द्वारा दखल न देकर अपने विषयको निरखनेकी नीति देखिये शुद्धनयमें निर्णयकी बात नहीं कही जाती, निर्णीत सारका लक्ष्य किया जाता है। निर्णय करने वाला व्यवहार नय होता है। नय तो एक विषयको देखता है, निश्चय नय और व्यवहार नय दोनोंकी बात करेगा। दोनोंकी रक्षा वह करता है, क्योंकि व्यवहार ही परमार्थका प्रतिपादक है। जहाँ ऐसे निर्णयकी बात मिल गई वहाँ आपको व्यवहार नयका प्रयोग देखना होगा। व्यवहार नयमें कई कलायें होती हैं, निर्णायकता और एक द्वैत पक्षका दर्शक है। इसकी अनेक कलायें हैं और निश्चय नयकी केवल एक कला है। एक द्रव्यको देखना। देखो जब जिस नयसे देखते हैं, जब जिस नयका प्रयोग करते हैं उस समय हम प्रतिपक्ष नयका विरोध करते हैं तो हम उन नयके उपयोगको गंदा कर देते हैं। किसी भी नयका प्रयोग, किसी भी नयकी दृष्टि प्रतिपक्ष नयका विरोध नहीं करती, किन्तु अपने विषयको ही दिखाती है। नयोंका काम है कि नय अपने विषयको दिखाये। प्रतिपक्षनयका विरोध करे यह नयकाकाम नहीं है और जब नयकी नीतिकी ईमानदारी हम खो बैठते हैं तब विवाद होता है। हम किसी नयसे बात कहें और प्रतिपक्ष नयका उसके साथ हम विरोध रखें या प्रतिपक्ष नयके विषयकी बात भी उसमें लगायें तो हम वहाँ उस नयका सही उपयोग नहीं कर सकते। अरे नयोंकी इस नीतिके अनुसार जो नयवादके विषयमें पड़ेगा उसका जीवन बड़ा सुलझा हुआ रहेगा, और जहाँ उपयोग सुलझा हुआ है, जिसके उपयोग में किसी भी नयका पक्षपात नहीं है वही जीव तो समयसार बननेके योग्य है। जो नय पक्षसे अतिक्रान्त है, उसीको समय सार मिलता है। जब जिससे देखें तब उसके विषय को बेधड़क देखें, पर अभिप्रायमें प्रमाणके विरुद्ध न चलें तो सर्व बातें निभती जायेंगी।

सांसारिक सुखसे विमुख होकर ज्ञानानन्दस्वाभावी अन्तस्तत्त्वके अभिमुख होनेका कर्तव्य सर्व ज्ञानोंका प्रयोजन क्या है? सो आचार्य कुन्दकुन्ददेवने बताया कि जो जीव आत्माको अबद्ध, अस्पष्ट,

अनन्य आदिक रूपमें अनुभव कर लेता है वह समस्त जैन शासनको जानता है। समस्त जैन शासकका प्रयोजन यह है कि भव्य जीव अपने आपको अच्छा बना लें याने ये निराकुल हो जायें, संसार परिभ्रमणसे छूट जायें, ऐसी अपनी स्थिति पा लें, बस यह ही सब समझनेका प्रयोजन है। तो देखो खूब आनन्दसे रहें, मौज किया, धन-वैभव जोड़ा इसीको ही सर्वस्व मानते रहे, पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब, पक्ष, पार्टी, दोस्ती आदिक इन सब बातोंमें ही उलझे रहे तो देखो जीवनकी गाड़ी तो बड़ी वेगसे जा रही है। कुछ ही दिनोंमें यहाँसे कूच करना पड़ेगा। अनेक उलझनों, अगर अपने उपयोगमें डाल रहीं तो उससे जो हम कल्याणसे वंचित रहें तो इसकी पूर्ति कोई दूसरा कर न जायगा और न अब भी पूर्ति कर सकता है। अपनी जिम्मेदारी अपने आपपर समझें और अपने आपको ऐसा एक समर्थ समझें कि मैं ही तो अपनी गुत्थियाँ सुलझाता हूँ, अपनेको गुत्थियोंमें उलझाता हूँ। मेरेमें तो वह सामर्थ्य है कि किसीका सहारा लिए बिना भी यदि हम वास्तवमें परकोपर जानकर उससे विरक्त हो गए हैं तो एक अपने आपके परमविश्रामके बलपर हम अपने आपमें सम्यग्ज्ञान प्रकट कर सकते हैं। अपने आपपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। अगर इसको न संभाला और मोह रागके ही चक्करमें रात-दिन रहे तो यह बहुत महंगा पड़ेगा। विषय भोगना सरल है, सस्ता है, मगर ये कितने महंगे पड़ते हैं? एक भवमें मौज ले लिया और खूब मौज से, आनन्दसे रहे, इन्द्रिय विषयोंकी प्रीतिमें ही समय गुजारे और मरकर गधा सूकर कीड़ा-मकौड़ा आदि कुछ बन गए तो फिर क्या करेंगे और मानो एकेन्द्रिय हो गए। असंज्ञी बन गए तब फिर वश क्या चलेगा? तो वर्तमानमें जो मनुष्यभव पाया है वह क्या इसलिए है कि खूब धन-वैभव जोड़ लें? क्या इसलिए है कि इन ५ इन्द्रियके विषयोंका खूब मौज लूट लें? क्या इसलिए है कि धर्मके मामलेमें विवाद, चर्चा, प्रसंग कषाय आदिकमें अपना जीवन उलझाकर गुजार दें? किसलिए जीवन है सो बताओ? जीवन है एक ऐसा रास्ता पानेके लिए कि जिससे हम अपने आपके स्वभावमें मग्न हो सकें, वह मार्ग मिलेगा निष्पक्ष रूपसे ज्ञान और वृत्ति होने पर, उसके लिए तत्त्वाभ्यास करें, सत्संग करें, अनुभवी पुरुषोंकी उपासनामें रहकर उनके अनुभवका क्रम आप निरखिये, मात्र वचनोंसे नहीं, प्रवृत्ति से, व्यवहार से, देखनेसे अनेक तरहसे एक अनुभवकी बात आवे! भैया! सब कुछ कर डालो एक अपने इस सहज ज्ञान-धनकी उपासनाके लिए। उसी ज्ञानकी इस सूत्रमें चर्चा चल रही है कि ये ज्ञान ५ होते हैं मतिज्ञान आदिक। मतिज्ञानादि ये विशेष बतानेके दोकाम हैं एक तो सच्ची समझ बनायें और एक जो झूठ समझ है उसे दूर करें। झूठी समझ क्या है? सो निरीक्षण कीजिये।

अनुमान आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रिय प्रत्यक्षके भी प्रमाणत्वकी असिद्धिका प्रसंग कोई दार्शनिक ऐसे हैं कि जो केवल अक्षमतिको मानते हैं, इन्द्रियों द्वारा देखा जाना, समझा बस यही सब कुछ है, अन्य कुछ है ही नहीं। और इसके सिवाय, इस ज्ञानके सिवाय और कोई ज्ञान ही नहीं, और कोई प्रमाण ही नहीं। और इसके सिवाय, इस ज्ञानके सिवाय और कोई ज्ञान ही नहीं, और कोई प्रमाण ही नहीं। प्रमाण केवल एक है। जो इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही मानते हैं ऐसे दार्शनिकोंका

नाम क्या है? लौकायतिक अथवा चारुवाक्। लौकायतिकके मायने यह हैं कि जैसा लौकिकोंका आचरण है वैसा ही जिनका आचरण हो उनका नाम है लौकातिक। मायने जैसे दुनिया मोहमें लग रही है, कुछ आगे-पीछे की नहीं सोचते, मिलना चाहिए इन्द्रियविषय, आनन्द सुख, बस ऐसी जिनकी दृष्टि है, ऐसा ही प्रायः सारा लोक है, उनकी ही तरह जिनका आचरण है वे हैं लौकायतिक अथवा चारुवाक्। चारु कहते हैं सुन्दरको, जिनकी वाणी बड़ी सुन्दर लगे। अगर स्वच्छन्दताकी विषय भोगोंकी बात कह दी जाये तो सबको रुचती है ना? और उन विषयोंमें स्वच्छन्दतामें धर्म बता दिया जाये तो उसके अनुयायी बहुत हो सकते ना, वे तो चाहते ही हैं, स्वभाव ही उनका यह हैं कि स्वच्छन्दताकी ओर विषयोंकी ओर लगे और किसीका उपदेश स्वच्छन्दताको बताते जायें। चारुवाक् यह ही तो बतलाते हैं खूब खाओ, पियो, मौज उड़ाओ यह ही धर्म है। अरे मरनेके बाद कौन देख आया कि फिर आगमन होता कि नहीं। ऐसा उपदेश देते, जिनके गुरुका नाम है वृहस्पति। चारुवाक्के गुरुका नाम है वृहस्पति। वृहस्पतिका यह उपदेश है खूब खाओ पियो, मौज उड़ाओ, यह ही धर्म है। तो ऐसे आशय वाले दार्शनिक कहते हैं कि प्रमाण तो बस एक है यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष (अक्षमति) जो इन इन्द्रियोंसे देखा जा रहा, समझा जा रहा वही तो है, बाकी और कुछ नहीं। तो ऐसे हैं कुछ दार्शनिक जो केवल एकमतिको ही मानते हैं। मतिके जो और भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि उनको भी नहीं माना, फिर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानकी तो बात क्या? मगर अन्य प्रमाण माने बिना इस इन्द्रिय प्रत्यक्षको भी वे क्या सिद्ध कर सकते? इन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण है? तो लौकायतिक कहते हैं कि वाह, इसमें कोई विसम्वाद ही नहीं होता है। यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि विसम्वादका अभाव होनेसे याने संवादक होने से। जो हम देखते हैं, जानते हैं इसमें तो कहीं विवाद ही नहीं आ रहा है इसलिए प्रमाण है। तो भाई यह ही तो अनुमान बन गया। जहाँ यह सिद्ध किया कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है संवादक होनेसे याने विसम्वाद विवाद न होने से, लो ये हेतु आ गया, साध्य आ गया, प्रतिज्ञा बन गई, अनुमान हो गया। हो गया ना अनुमान प्रमाण तो मतिके अनर्थान्तरमें जो अनुमान है वह प्रसिद्ध हो गया।

स्मृति तर्क आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रिय प्रत्यक्ष व अनुमानके प्रमाणत्वकी सिद्धिकी अशक्यता

कोई दर्शन कहता है कि चलो ये तो दो तरहके प्रमाण मान लो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान और कुछ नहीं है। अच्छा तो वे यह बतलाते हैं कि अनुमान जो किया है, जैसे किसी पर्वतमें धुआं देखा और धुआं देखकर ज्ञान होता कि यहाँ अग्नि है, धुआं होनेसे तो यह अनुमान बना कब? तब बनता कि जब इसका वह स्मरण भी हो गया कि जहाँ-जहाँ धुआं होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। हमने यह बात दसों जगह देखी है, उन दसों जगहोंका स्मरण होता है तब ही तो यह तर्क बनता है, तो स्मृति भी आयी कि नहीं? तर्क भी प्रमाण है, और ये सब बातें तब होती हैं जब प्रत्यभिज्ञान हो। मैंने वहाँ देखा था, मैं वहाँ देख रहा हूँ, तो ये सारे ज्ञान बराबर प्रमाण हैं। इसमें किसीका विरोध करना बनता नहीं। एकान्तवादी दार्शनिकोंका जो मंतव्य है उसका निराकरण हो जाता है इस भेदको बताने से।

तो मति शब्दसे कितनी बातें लेना? मति, स्मृति। स्मरण भी ज्ञान होता कि नहीं? ख्याल आता, याद आती। प्रत्यभिज्ञान भी होता, तर्क व अनुमान भी है। यह सब उन पर्यायोंकी बात कर रहे हैं जो हमारे ज्ञान सामान्यको उपादान करके परिणमन करते हैं कर्मविरामके अनुसार। जो विशेषोंको परखते हैं वे विशेषोंमें रहने वाले सामान्यको सुगमतया स्पष्ट रखते हैं। जैसे जो आदमियोंको जानता है, कितने आदमी, ऐसे लोग, वह इनमें रहने वाले मनुष्य सामान्यको समझ लेता है।

विशेष अथवा व्यक्तियोंको माने बिना सामान्यकी सिद्धिकी असंभवता व्यक्तिको जाने नहीं, सामान्य-सामान्यकी बात करे तो उनका सामान्य ऐसा है जैसे कि एक हौवा डरानेका। यह ही तो चला नित्यत्व एकांतवाद में। केवल सामान्यतत्त्वको रखा सर्व वैखल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। और कुछ है ही नहीं। तो जब उस ब्रह्मका, उस तत्त्वका, उस पदार्थका कुछ परिणमन ही नहीं माना तो वह क्या है? कोई सत् है क्या? सत् नहीं। पर्यायशून्य कोई सत् नहीं होता। केवल एक मन बहलानेका ही है वह ब्रह्म। मन बहलानेका ही है वह सामान्य, जहाँ कि विशेषका निर्णय नहीं है। और विशेषका विरोध करके सामान्यको तका जा रहा है वह केवल हौवा मात्र है, चीज कुछ नहीं है। मगर आप कहेंगे कि प्रभाव तो पड़ता है। जिस समय हम अकेले सामान्य-सामान्यकी बात करते हैं तो उसका असर तो होता है। हां-हां असर तो यहाँ बच्चेको भी होता है, जब माता रोते हुए बच्चेको धमकाती है कि तू चुप हो जा, नहीं तो हौवा आ जायेगा, तो वहाँ वह बच्चा चुप हो जायगा। तो क्या किसी किस्मका असर हो जानेसे हौवा सत् हो गया? क्या पदार्थ हो गया? एक कल्पनाकी चीज मात्र है। ऐसे-ऐसे दार्शनिक लोग हैं कि जो अपने ग्रन्थोंमें पेजके पेजमें ऐसी शब्दछटा दिखा जायेंगे कि जिसका अर्थ लगानेमें बड़ा दिमाग लगेगा। उनका अर्थ करनेमें बड़ा जोड़, समय व चित्त लगेगा और उसका उसमें चित्त लगा तो बाहरकी बातें कुछ भूल गए तो एक विलक्षण दशा वहाँ भी होगी और वहाँ पदार्थको बताया ही नहीं गया। तो बात कहनेकी सारभूत यह है कि निर्णय सब सही बनावें और ऐसी दृष्टि रखनेमें हमारा आत्महित होता है, ऐसी परख बनाकर उसकी मुख्यता ऐसी करें कि अपना कल्याण हो। सत्यका विरोध कर आगे बढ़ना श्रेय नहीं, किन्तु जो प्रयोजनवान नहीं है ऐसे असत्यकी अपेक्षा कर प्रयोज्य सत्यकी दृष्टि लगाकर आगे बढ़नेमें श्रेय होता है।

मतिज्ञानका विस्तार जिन प्रमाणोंसे वस्तु स्वरूपकी जानकारी होती है उन प्रमाणोंका विवरण यह चल रहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन ५ ज्ञानों द्वारा, प्रमाण द्वारा वस्तुकी जानकारी होती है, जिनमेंसे मतिज्ञानके विषयमें ही कुछ प्रकरण चल रहा है। जहाँ मति शब्द दिया इसमें केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ग्रहण न करना, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान इन प्रमाणोंका भी ग्रहण करना यह सब मतिज्ञान ही कहलाता है। अब थोड़ा ऐसा सोचना बन रहा होगा कि अनुमान तो बिना विचारपूर्वक नहीं चलता है और जब उसमें बड़ी तर्कणा होती है तब सिद्ध होता है, यह बात मतिज्ञान तो न कहलायेगा? हां कहलायेगा। अनुमान प्रमाण जब तक स्वार्थ रहता है तब तक कहलाता है मतिज्ञान और जब परार्थ होता है तब कहलाता है श्रुतज्ञान।

जैसे आप कहीं चले जा रहे हैं और सहज ही आपको कहीं धूम दिख गया, अग्नि जान गए, ज्ञानमें ऐसी बात आ गई। अब जब हम उसमें व्याप्ति लगायें, दूसरोंको बतायें-समझायें, साधन साध्यका प्रयोग करें वह सब श्रुतज्ञान है। तो मतिज्ञानका कितना बड़ा विस्तार है यह आप अंदाज कर लो। इसका बहुत विवरण तो तब आयेगा जब इसके भेद बताये जायेंगे। और तब ध्यानमें आयेगा कि मतिज्ञानका जो इतना बड़ा विस्तार है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान इतना बड़ा जो विस्तार मतिज्ञानका उसमेंसे जो असंज्ञी जीव हैं एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी जीव तक, उनके अवग्रह नामक मतिज्ञान होता है। ईहा, अवाय, धारणा विशेषतया वहाँसे शुरू हो जाता है, जहाँसे मन शुरू होता है। अब आप समझो कि मन वाले पुरुषको कितना परिचय होता है और अवग्रहमें चार संज्ञाओंकी मददसे कितना बड़ा बोध होता है?

असंज्ञी जीवोंके संज्ञाबल विशिष्ट अवग्रह मतिज्ञानकी लीला चींटी शक्करपर पहुंच जाये, चले-फिरे, रास्ता बन जाये। जब चींटियोंका रास्ता बनता है तो चाहे मिलटरीके जवान लाइन छोड़ दें, मगर उन चींटियोंकी लाइन जरा भी इधर-उधर नहीं होती। वहाँसे भी चींटी आ रहीं, यहाँसे भी जा रहीं, रास्तेमें मुठभेड़ हो गई या भेंट हो गई, थोड़ा रुकना भी हो गया, फिर वह आगे बढ़ गई। यों कितने ही बड़े-बड़ेकाम हो रहे हैं। और मन उनके हैं नहीं। मनके बिना भी ये सबकाम करती हैं। आखिर हैं तो ये जीव भी ईश्वर स्वरूप ही। गये बीते हों तो भी क्या? संज्ञावोंके बलसे उनके इतने बड़ेकाम हो जाते हैं, और वे सब इस तरह बन गए जैसे मान लो एक प्राकृतिककाम हुए। वे चींटियां क्या कुछ बुद्धि लगाती हैं कि मेरा घर अच्छा बने? मगर आपने देखा होगा कि नीचेके कण ऊपर ला-लाकर एक अपना घर सा बना लेती हैं, और ऐसा घर बना लेती हैं कि कहो वैसा आप भी न बना पावें। निम्न पर्याय होनेपर कितना विस्तार है इस ज्ञानका? कितना ही कर्मसे आच्छन्न हो गया यह जीव, फिर भी ज्ञानावरणका निमित्त इतना निमित्त नहीं बन सकता कि इस ज्ञानका सर्वापहार हो जाये। जो निगोद जीव हैं वहाँ भी यह ज्ञान चमक रहा है। है वह अक्षरके अनन्तवें भाग, मगर ज्ञान न रहे बिल्कुल, ऐसा कहीं नहीं हो सकता। हां तो देखिये इस मतिज्ञानमें कितने ज्ञान आ गए? इन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान।

गृहीतग्राही बताकर श्रुतज्ञानको अप्रमाण बतानेकी शंकाका निराकरण यहाँ एक शंका हो सकती है कि स्मरण जब होता है तो उस ही चीजका स्मरण होता है जिसको हमने पहले देखा हो, सुना हो, परिचय किया हो। अज्ञातका स्मरण तो होता नहीं। कोई न कोई विधिसे कभी भी किसी भी समय चाहे पूर्वभवमें भी जाना, कल, परसों जाना, पर जाना हो तो स्मरण होता है। तो शंकाकार यहाँ यह कह रहा कि पहले प्रमाणसे जिसको हमने ग्रहण कर लिया था उसीको ही स्मरणने जाना तो स्मरणने किया? ग्रहण किएको ही जाना। और ग्रहण किए हुएको ग्रहण करे उसे कहते हैं गृहीतग्राही, और गृहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है। कैसे? अप्रमाण ऐसा अंदाज कर लो कि जैसे किसीने जाना कि यह घड़ी, अब १० मिनट तक घड़ी घड़ी घड़ी ऐसा वह करता रहे तो उसे तो लोग

पागल कहेंगे, क्योंकि वह गृहीतग्राही ज्ञान चल रहा। गृहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है। तो स्मृतिने जब पहले ग्रहण किए हुएको ही जाना तो गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण क्यों न हो जायेगा? क्यों उसको महत्व देते? एक यह शंकाकारकी शंका है। अब समाधानमें सोचें देखो अगर प्रमाणसे ग्रहण किए हुएको पुनः प्रमाणसे जाना जाये और उसे अप्रमाण कह दें तो सब कुछ अप्रमाण हो जायेगा। जो जिसको प्रमाण कहता है वह भी अप्रमाण हो जायेगा। कैसे? जो लोग मानते हैं कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है और जब उनसे पूछो कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह तुमने कैसे जाना? तो वे कहेंगे कि सम्वादक है, विसम्वाद नहीं होता सही परिचय कर रहे हैं इसलिए प्रमाण है। तो देखो अनुमानका रूप बन गया। इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि सम्वादक होनेसे विसम्वादका अभाव होने से। देखो यह जो अनुमान बना रहे हो वह प्रमाण है कि अप्रमाण? अगर कहो कि अप्रमाण है तो अप्रमाणका जो विषय है वह भी अप्रमाण हो जाता है। इस अनुमानमें इन्द्रियप्रत्यक्षकी अप्रमाण सिद्धकी जा रही है। और अनुमान हो गया खोटा तो इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है यह बात न घटी मानना पड़ा ना और कहो कि नहीं, अनुमान प्रमाणरूप है तो हम कहेंगे कि गृहीतग्राही हो गया, क्योंकि अनुमान तर्क प्रमाणसे गृहीत विषयको ग्रहण करता, प्रमाण कैसे हो गया? याने जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे सब कुछ समझा उसीके बारेमें अनुमान बोला जा रहा है। जिसको जो कोई कुछ समझे उस शब्द द्वारा समझा गया गृहीतग्राही हो गया तो ऐसा गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण नहीं होता, किन्तु उतनाका ही उतना गृहीतका ग्रहण चलता रहे, उस विषय में कोई रंच भी परिवर्तन न हो तो वह न्यायसे गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण माना गया है। याने गृहीत और अगृहीत दोनोंका जहाँ ग्रहण हो रहा है वहाँ गृहीतग्राहीका दोष नहीं होता और जहाँ केवल गृहीत आशंका ही ग्रहण किया जा रहा है दूसरे ज्ञानसे न कम, न बढ़, न बदलकर, उसे अप्रमाण कहेंगे, और लोग पागल ही कहेंगे। जो बात कहते उतनेको ही बार-बार कहा गया। तो अब इस कुञ्जीसे सोचो कि मतिज्ञानने जो ग्रहण किया उसको स्मरणने जाना तो क्या उसी ढंगसे जाना जैसे मतिज्ञानने जाना? नहीं। जैसे मान लो आपका कोईकानपुरमें रहता है। और यहाँ बैठे हुए ही आपने उसका स्मरण कर लिया। घरका बच्चा है, उसे आपने देखा ना घर में। तो जो इन्द्रियप्रत्यक्ष हो उससे इसमें विशेषता है ना। आजके विषय में भी बदला हुआ है, पद्धति भी बदली हुई है, वह एक देश प्रत्यक्ष है। यह स्मरण परोक्ष है। यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष भी परोक्ष ज्ञान है, लेकिन इसको एकदेश प्रत्यक्ष कहते हैं और स्मृति है परोक्ष, इतना तो अन्तर है। गृहीतग्राही बताकर इसे अप्रमाण कहें, वह बात ठीक नहीं। गृहीतको जाना, मगर उसका विषय बदलता है। यह बात सब जगह चलती रहेगी, सिद्ध होता रहेगा।

गृहीतग्राही बताकर केवलज्ञानको अप्रमाण कहनेकी शंकाका निराकरण गृहीतग्राहीका अभाव केवलज्ञानमें घटाना जरा कठिन पड़ जायेगा। कह सकते हैं कि बस केवलज्ञानमें जो तीन लोक, तीनकाल सब कुछ जब जान लिया पहले समयमें और दूसरे समयमें वही जाना, न कम न बढ़, क्योंकि असत्को जानें तो वह बढ़ जायेगा और कोई सत् छूट जाये जाननेसे तो वह कम हो जायेगा।

सो तो नहीं है तब केवलज्ञान गृहीतग्राही ही हो जायेगा अप्रमाण, ऐसी शंकाका समाधान यह है कि श्रेय पदार्थ क्षेत्र कालसे परिवर्तित होते हैं, सो ज्ञेयके परिवर्तनसे ज्ञेयाकार परिवर्तित है, किन्तु है ज्ञान उतना है। देखो यद्यपि समस्त त्रिलोक, त्रिकालवर्ती ज्ञानमें आ रहा, यह जो विषय बदलता रहता है। पदार्थ क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर है, काल सेकालान्तर है, अन्तर तो होता है। जो आज भविष्य है वह कल वर्तमान है, तो जब ऐसाकालपरिणमन और क्षेत्रपरिणमन इन वस्तुओंमें चल रहे हैं, और केवलज्ञानका विषय है एक तो जैसाकाल विच्छिन्नतया पहले जाना वही तो न रहा, एक बात। दूसरी बात केवलज्ञानमें प्रमाण अप्रमाणकी प्रमुखता मत दें। प्रमुखता वहाँ दी जाती है जहाँ प्रमाणकी प्रतिपक्षताकी संभावना साथ लगी रहती है। उससे किया निर्णय। सभी ज्ञान संवादक हैं, प्रमाण हैं। उनकाकाम उनके साथ है, तथापि निर्णायक श्रुतज्ञान है, निर्णायक मतिज्ञान है, निर्णायक क्षयोपशमिक ज्ञान है। वह तो एक सहज प्रतिभास मात्र है। है मगर प्रमाण। मगर हम आप सबको प्रमाणता जहाँ खोजनी है वहाँ तो गृहीतग्राही नहीं कहलाता। जहाँ ग्रहीतके साथ अगृहीत भी जाना जा रहा है वह गृहीतग्राही नहीं कहलाता।

अपनी बातकी चर्चा मतिज्ञानके सम्बन्धमें जरा कुछ वर्णनके बाद अब श्रुतज्ञानके बारेमें कुछ विचार करें। श्रुतज्ञान, 'श्रुत' ऐसा कहनेसे बना क्या, मिला क्या, समझा क्या? देखो यह चर्चा हम-आपकी चल रही है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान है ना, वह हम-आपके रहता है और उसकी हम बात बोल रहे, वह तो लग रही कठिन और कहीं परकीय चर्चा करें तो वह लगेगी सरल। यह कैसे भेद पड़ गया? अभी कुछ गहनोंका जिक्र करें, कुछ बाहरी साज-शृंगारका जिक्र करें तो वह जल्दी समझमें आ जाती है, परकी बात तो झट समझमें आ जाती है और स्वकी बात, मति, श्रुतज्ञानकी बात समझना कठिन लग रहा है। ऐसा न बनाओ चित्त। देखिये ये जो शृंगार होते हैं वे क्यों होते हैं? क्यों करते हैं शृंगार? कानमें ततैया जैसा गहना? मस्तकमें मकड़ी जैसी टिकली, नाकमें मक्खी बैठ गई ऐसी पुङ्गइया, कमरमें सांप जैसी करधनी आदि जो अनेक प्रकारके शृंगारके गहने चले हैं तो उनका प्रयोजन क्या है? तो शृंगारका प्रयोजन यह है कि हमारा रूप अच्छा नहीं है तो जरा अच्छे जंचने लगे। हमारी शोभा नहीं है, गंदा शरीर है, अपवित्र है तो जरा सुहावना लगने लगे। मूल प्रयोजन शृंगारका यह है। इसको खूब खोज करके समझ लो। भले ही वह कुछ और प्रक्रियामें आ गया, पर शृंगारका जो आविष्कार सर्वप्रथम हुआ होगा वह इसी प्रयोजनको लेकर हुआ होगा, ऐसा हमारा कुछ आभास है। तो यह शरीर तो गंदा है ही, अगर थोड़ा यह सोच लें कि इस मुखको देखकर कुछ अच्छा भी लगता तो थोड़ा इसपर भी विचार कर लो कि इस नाक, मुख, आँख, कान आदिके अन्दर भरा क्या है? अगर इसपर कुछ ध्यान चला जाये तो शायद इस शरीरके प्रति अभी उपेक्षा हो जाये। कदाचित् नाकसे जरा-सी नाक खिसक पड़े तो सारे सौन्दर्यमें बाधा आ जायेगी।

तो इस शृंगारको ऐसा समझो कि यह तो एक इस अपवित्रताकी प्रक्रिया है। यह शरीर गंदा है, अपवित्र है, विनाशीक है। तो उसकी यह प्रतिक्रिया कि चमकते हुए मोतीके दाने अगर नाकपर

धर लें तो उसकी पोल ढक जायेगी। यह जो शरीरमें अपवित्रताकी पोल भरी है इसके ढकनेके लिए ही मानो ये साज-शृंगारके साधन बने हैं। देखो हम यहाँ यह नहीं कह रहे कि सब लोग गहने उतारकर फेंक दें, वह जब एक रूढ़ि बन गई, वैसी बात चल रही तो वैसा थोड़ा तो करना ही पड़ता है, मगर भीतरमें यह विश्वास बनायें कि इसमें मेरा शृंगार नहीं है, मेरा शृंगार है ज्ञान, ध्यान, संयम, तपश्चरण आदिक से। अब बतलाओ, जो लोग शरीरको बड़ा सुकुमाल प्रकृतिका बना लेते हैं हमसे रातको भोजन न छूटेगा, पानी न छूटेगा, एकाशन न बनेगा....., अरे वे इस शरीरको कितना ही लाड़-प्यार करके रखें, मगर मरण होगा तो वह बच जायेगा क्या? और शरीरको बड़े तपश्चरणमें लगावें अपनी शक्तिनुसार, तो उससे कुछ भाव विशुद्ध हैं, उससे कुछ लाभ भी मिलेगा। तो भाई इस शरीरको सुकुमाल प्रकृतिका न बनावें, कष्ट सहिष्णु बनावें और आत्माका शृंगार श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे है। हो सके तो बताओ जिससे कि भव-भवके संकट दूर हों तो हम यह चर्चा कर रहे हैं इस जीव की, आत्मा की, खुद की। वहाँ भीतरमें क्या गुजर रही है? बतलाओ इस समय सुन रहे न, कुछ जान भी रहे, तो जो तुम भीतर कर रहे उसीकी बात कह रहे यह है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

श्रुतज्ञानकी अनिवारित प्रमाणता श्रुतज्ञान ज्ञान ही है। पहले कहा था ना कि अवधारण दोनों तरफ लगता है, श्रुतज्ञान ज्ञान ही है अज्ञान नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका संसर्ग नहीं है। यह सम्यग्ज्ञानकी बात चल रही है, उसे श्रुतज्ञान बोलते हैं। जब-जब श्रुतज्ञान बोला तो सम्यक् श्रुतज्ञान यह समझ लो। तो जो लोग श्रुतको अज्ञान मानते हैं, अप्रमाण मानते हैं, ऐसे दार्शनिकोंके मंतव्यका श्रुत शब्द देनेसे निराकरण होता है इस सूत्र द्वारा। श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह अपने विषयमें सम्वादक है, सच्ची जानकारी देता है। श्रुतज्ञान वास्तवमें तो कुछ है ही, क्योंकि उस प्रकार ज्ञान किया जा रहा है। मतिज्ञानसे ज्ञान विषयमें ज्ञानका वैसा विशेष परिणमन है और फिर जो लोग कुछ शब्द बोलते हैं उसका नाम भी श्रुत है और जो शास्त्रमें लिखा है उसका भी नाम श्रुत कोई पूछे कि अच्छा हम लेखा-जोखा रखते हैं, बहीखाता रखते हैं यह भी श्रुत है कि नहीं? तो है तो यह भी श्रुत, मगर इस श्रुतकी बात नहीं कह रहे, यहां सम्यक् श्रुतकी बात कह रहे। यह न सोचना कि हमारी बहीको भी श्रुत बता दिया तो ठीक है, हम तो उसकी रात-दिन खूब उपासना कर ही रहे हैं (हंसी), किन्तु श्रुतज्ञान ही अपने विषयमें सम्वादक है, इस कारण से वह प्रमाण है। श्रुतको कौन प्रमाण नहीं मानता? जो नहीं मानता उसे भी आखिर अपने शास्त्रको प्रमाण मानना पड़ेगा तब इष्ट सिद्ध होगा। बहुतसे दार्शनिक हैं? चारुवाक् जिन्होंने केवल एक इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माना उन्होंने भी श्रुतज्ञान तो किया, उसके लिए स्मृति आदिक भी चाहिये। सो सब कर तो रहे, अपने शास्त्र भी बताते, पर उनको प्रमाण कहनेमें शर्म आती है। बौद्ध लोगोंने प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण माने हैं, वे भी आगमको प्रमाण नहीं मानते। अब विडम्बनाकी बात देखिये जोशमें आकर शास्त्र सामने धर देंगे कि देखो यह लिखा है। जब चर्चा चलती होगी, कोई बात कहनी होगी तो अपना शास्त्र जो

कुछ होगा उसको दिखाकर कहेंगे कि देखो यह लिखा है। देखो व्यवहारमें तो आगम प्रमाणका व्यवहार बना रहे, और कहते हैं कि प्रत्यक्ष व अनुमान यह ही प्रमाण है। आगम प्रमाण नहीं। तो ऐसे जो-जो भी दार्शनिक आगमको प्रमाण नहीं मानते वे अपने इष्ट प्रमाणको भी सिद्ध नहीं कर सकते। श्रुतज्ञान प्रमाण है।

श्रुतज्ञानकी प्रमाणताके विषयमें शंका व समाधान शंकाकार कहता है कि हम तो यह देखते हैं कि कोई- कोई बात अप्रमाण भी नजर आती है शास्त्र में, आगम में। अब जो यों समझ लो चाहे वह परम्परासे चला आया हुआ न हो, किसीने कुछ ऊपरी बात मिला दी हो, कैसे ही समझ लो, शंका तो हो सकती, विसम्वाद तो होता है। हम तो देखते हैं पुराणों में, शास्त्रोंमें कि कोई बात विवादकी भी रखी रहती है। प्रमाण कैसे मानें? अच्छा, तुम इस सारे श्रुतज्ञानको प्रमाण कहते हो तो देखो इन्द्रियप्रत्यक्षसे भी हम जिस चीजको जानते हैं उसमें भी हम धोखा खाते कि नहीं? इस जगह धोखा खाते यहाँ भी देखो थी तो रस्सी और समझ गए साँप तो यहाँ भी यह कह दो फिर कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो गया। यदि कहो कि कहीं विसंवाद है तो इससे कहीं यह बात तो न हो जायेगी कि सारे इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायें। तब ऐसा यहाँ भी समझ लो कि यदि कोई स्थल विसंवादापन्न है, कोई बात अगर अप्रमाण है तो उससे कही सब बातें तो अप्रमाण न हो जायेंगी। यहाँ एक निर्णय बनाना चाहिए। जो आप्त है, सर्वज्ञ है उसकी मूल धारासे चला आया हुआ जो वचन है वह कभी भी प्रमाण हो ही नहीं सकता। निर्णय करो कि यह तो अमुक अल्पज्ञ था, असंयमी था उसने बनाया है। इससे फर्क पड़ा है। अभी आप देखो संयमी पुरुषोंके द्वारा जो रचना होगी वह दूसरे ढंगकी होगी और जब असंयमीके द्वारा रचना होगी तो थोड़ा भीतरके उपादानकी योग्यताके संस्कार के कारण वचनोंकी टोन में, अर्थमें भेद आ जायेगा। आप ध्यान दो, अच्छा और भी आप देखो। जैसे जो गुड़ खाता है उसके लिए कहा जाये कि महाराज हमारे बच्चेको गुड़का त्याग करा दो, तो उसका त्याग कराना बड़ा कठिन हो जाता है। एक कथानक है ऐसा कि जब किसीने कहा कि महाराज आप हमारे बच्चेको गुड़के त्यागका नियम दिला दें, तो उसने कुछ सोच-विचारकर कहा अच्छा १५ दिन बाद दिलायेंगे। अब उसने खुद १५ दिन तक साधना करके गुड़का त्याग कर दिया। उसके बाद उस बच्चेको गुड़के त्यागका नियम दिया। किसीने कहा महाराज आपने १५ दिन पहले नियम क्यों न दिया था? तो बताया कि हम खुद गुड़ खाते थे इसलिए नियम न दिया था। तो यह प्राकृतिक बात है कि आप जिस किस्मकी बात करेंगे, आपका जैसा उपादान होगा। अनेक नियंत्रण होनेपर भी वैसा व्यवहार बन पड़ेगा। किसीकी समझी हुई बातको आप बहुत बतायेंगे। देखो आप ऐसा कहना, कितना ही समझाये जानेपर भी, आप जब दूसरेको वह बात कहने जायेंगे तो आप अपने उपादानके अनुकूल कोई एक छटा जरूर लगा देंगे। होता ही है ऐसा। आपने किसी नौकरको भेजा कि जाओ उससे अमुक बात कह आओ, उसे खूब समझा दिया। खूब समझनेके बाद भी क्या वह आप जैसा समझा सकेगा? नहीं समझा सकता, क्योंकि उसका उपादान ही और ढंगका है। बातमें शब्दोंका

हेरफेर करेगा, हेरफेर न भी करें तो टोन तो बदल ही जायेगा, तो प्रयोजन यह है कि हमको अगर कहीं विसम्वाद हो गया तो हमें मेल मिलाना चाहिए कि मूल आप्त सर्वज्ञदेवकी जो धारा चल रही है उससे मिलती हुई बात है या नहीं? मिलती हुई बात नहीं है तो आप यह समझ लो कि यह हमारे ऋषि संतोंके वचन नहीं हैं, ये तो कोई ऊपरसे लगा दिए गए हैं। कहीं आगम में कोई बात अप्रमाणकी मिल जाये, कहीं एक जगह विसम्वाद हो तो उससे कहीं सारी जगह विसम्वाद नहीं करार किया जा सकता। अगर ऐसा करार कर दिया जाये तो समस्त इन्द्रियप्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रियसे हमने मानो १०० बातें देखीं और उनमें से कोई एक दो बातें गलत निकल गईं तो उसमें कहीं यह नहीं करार किया जा सकता कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष अप्रमाण है।

क्वचित् विसंवाद होनेसे सर्वत्र अप्रमाणताका अनियम शंकाकारने कहा था कि श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि किसी जगह उसमें विसम्वाद भी देखा जा सकता है, तो ऐसा कहने वाला शंकाकार अभिज्ञ नहीं है। हो सकता है कहीं विसम्वाद, मगर कहीं एक जगह विसम्वाद हो जानेसे कहीं वह श्रुत अप्रमाण नहीं हो गया। देखो जैसे मतिज्ञानके द्वारा हम जान लेते कि यह तालाब है और हमें पानी पीना है तो झट पहुंच जाते हैं। और पुस्तकके द्वारा आप जान जायें कि इस जगह नदी है तो आप नदीपर भी पहुंच जाते हैं। तो जैसे मतिज्ञानसे जान करके उसकी अर्थक्रिया होती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानसे जानकर भी अर्थक्रिया होती है। इसलिए यह श्रुतप्रमाण है। क्वचित् विसंवादक होनेसे अप्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें मिलान करेंगे तो निर्णय हो जायेगा वीतराग ऋषिजनों द्वारा प्रणीत है आगम तो उसमें अप्रमाणताका अवकाश नहीं, मगर पंडित लोग भी तो ग्रन्थ रचते ही हैं और विद्वान भी रचते ही हैं उनमें अगर कहीं विसम्वाद हो गया तो कहीं उसके मायने यह नहीं है कि वह भी सब अप्रमाण है। जहाँ विवाद हो वहाँ मिला लो। आर्षमें तो विवाद नहीं, किन्तु जो अनार्ष है उसमें विसम्वाद हो सकता है। सो जहां सर्वज्ञताकी धारासे मिलान करता हो वह प्रमाण है और जहाँ मिलान न खाये वह प्रमाण नहीं है। तो कहीं कुछ अंश मिलान न खाने से, उसका कुछ अंश प्रमाण न होनेसे यह नहीं करार किया जा सकता कि समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण है। मतिज्ञानकी भाँति श्रुतज्ञान भी संवादक है, इस कारण यह श्रुतज्ञान इन ५ सम्यक्ज्ञानके विशेषोंमें सम्मिलित किया है। जैसे मतिज्ञान प्रमाण है वैसे ही श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। कहीं विसम्वाद आनेसे समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण नहीं हो गया। तो देखो श्रद्धाकी बात बतलाते हैं कि जिन वाणीके वचनोंमें शंका करे सो जैन नहीं है। जिन कौन? जिसने रागद्वेषको जीता वह जिन, अरहंतदेव, जिसने रागद्वेषपर विजय किया वे आचार्य उपाध्याय और साधु। इनकी परम्परासे चला आया हुआ जो आगम है उसमें कभी भी शंका न करनी चाहिए। कदाचित् अतिरिक्त शास्त्रोंमें कहीं विसम्वाद हो तो उतनेके कारण सबको अप्रमाण करार न करना। जैसे इन्द्रियप्रत्यक्षसे हमें कई चीज अप्रमाण जंचीं तो सारे इन्द्रियप्रमाण अप्रमाण नहीं होते। तो जो श्रुतज्ञानकी प्रमाणता नहीं मानते हैं उनका निराकरण इस श्रुतज्ञानके कथनसे हो जाता है।

मति, श्रुतज्ञानके स्वामियोंका कुछ दिग्दर्शन बतलाओ कितने ज्ञानोंकी बात चली अब तक? दो ज्ञानों की (१) मतिज्ञानकी और (२) श्रुतज्ञान की। ये सब संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं, अरहंतके केवलज्ञान है। एक जो मुनि महाराज हों और मनःपर्यय ज्ञानके धारी हों। आजकल तो मनःपर्ययज्ञानके धारी मुनि न हो सकेंगे, परमावधि व सर्वावधि ज्ञानके धारी नहीं हो सकते, हाँ देशावधि सम्यग्ज्ञानके धारी अब भी हो सकते हैं। पर प्रायः सबमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जा रहा है। जो मनःपर्ययज्ञान धारी हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान जो अवधिज्ञानके धारी हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, जिनके ये नहीं हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान पाया जा रहा है। जो मनःपर्ययज्ञान धारी हैं उनका भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान जो अवधिज्ञानके धारी हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, जिनके ये नहीं हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान और जिनके मन नहीं है उनके भी मति, श्रुत है, वह अज्ञान, वह इस प्रकारका कि जहाँ विवेकरहित है, हिताहितका ज्ञान नहीं, ऐसे ही उस मतिसे सम्बन्धित कुछ विशेष ज्ञान हैं उस ज्ञान में, और इसी तरह उन असंज्ञी जीवोंके सम्भव है। जब श्रुतज्ञान है तो कोई न कोई उनमें ईहा अवाय होगा, मगर उनका ईहा अवाय जैसे श्रुतज्ञान स्पष्ट नहीं, ऐसे ही ईहा अवाय भी स्पष्ट नहीं। संज्ञाओंके बलपर जितना ज्ञान विकास होता है उतना वहाँ ज्ञान विकास होता है। यों इस प्रकरणमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वर्णन किया।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानमें ज्ञानत्वकी सिद्धि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम, इस सूत्रमें मति और श्रुतज्ञानके बारेमें कुछ वर्णन हुआ था। अब यह जिज्ञासा हो रही है अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इनके वचनसे क्या बताया गया, क्या किया गया है, इसका क्या तात्पर्य है? तो इन तीन बातोंके बारेमें अब कुछ वर्णन किया जा रहा है, ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हैं। प्रत्यक्ष क्या? आत्माका ही सहारा लेकर जो उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्षके मायने इन्द्रिय भी है और अक्षके मायने आत्मा भी है। जो व्याप जाये उसे अक्ष कहते हैं। जो व्याप जाये, ऐसा जगत् में कौन-सा तत्त्व है? देखो विलक्षणता आत्मामें है कि यह ज्ञान निश्चयतः, तो आत्माके प्रदेशोंमें ही रहता है, मगर इसकी लीला की, इसकी वृत्तिकी जब प्रशंसा करते हो तो ऐसा ही कहनेसे समझमें आता है कि ज्ञान तीनों लोकोंमें व अलोकमें फैल गया। व्याकरणशास्त्रमें एक मर्म आप और जान लेंगे कि प्रायः करके जितनी धातु गमन होनेके अर्थमें हैं, उन्हीं धातुओंका अर्थ प्रायः जानना भी है। जाना और जानना दोनोंकी वाचक प्रायः एक धातु होती हैं। इससे व्यावहारिक रूप विदित होता है कि यह ज्ञान ऐसा जाता है कि जिसकी तरह और कोई चीज जा ही नहीं सकती। ऐसा लोकालोकमें व्यापक होता है। बस ज्ञानमय आत्मा है, अपना आत्मा भी ऐसा जाता है कि लोकालोकके व्याप जाता है, इसी कारण इसे अक्ष बोलते हैं। अर्थात् आत्माका सहारा लेकर जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान। सूत्रकार उतने ही शब्दोंको सूत्रमें लगाते हैं कि जिसके बिना प्रतिपाद्यका प्रतिपादन नहीं हो सकता। तारे उनके सूत्रमें जो कुछ भी शब्द हों वे निरर्थक नहीं होते, उनका वाक्य अर्थ है। तो सूत्रमें ही अवधि, मनःपर्यय, केवल शब्द दिया है, उससे सिद्ध होता है कि वे ज्ञान ही

हैं और अनुमानसे यों है कि इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं आ सकता जो इन ज्ञानोंका अभाव सिद्ध कर दे।

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानके अस्तित्वकी सुगम सिद्धि भला जब ज्ञानमें इतनी सामर्थ्य है कि यह स्वतंत्र हो जाये, पर संसर्गरहित हो जाय, केवल रह जाय, तो तीन लोक तीनकालके समस्त सत् इसके ज्ञेय हो जाते हैं, ऐसा जब केवलज्ञान सिद्ध है तो केवलज्ञानसे थोड़ा ज्ञान हो तो उसमें क्या आपत्ति? वे ही हो गए मनःपर्यय और अवधिज्ञान। आखिर प्रत्यक्षकी पद्धति ही तो है केवलज्ञान बड़ा है, जहाँ इतना बड़ा ज्ञान सम्भव है वहाँ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी सम्भवतामें क्या संशय? वास्तवमें यह अपना प्रभु, परमात्मा मानो प्रति समय तैयार बना रहता है प्रकट होनेके लिए और इसको शान्त निराकुल बनानेके लिए। किन्तु कोई किसका आदर ही न करे तो वहाँ इसका वश नहीं चलता। जब वह सहज परमात्म तत्त्व स्वरूपतः ऐसा परविविक्त है और अपनी सारी शक्तियोंमें तन्मय है कि यह तो सदा ही उद्यत है कि ऐसा ही पूर्ण प्रकट हो जायेपर उपादान दृष्टिसे तो इस उपयोगमें अपनी अशक्तिसे इसको दबा रखा है और उपयोग ऐसा बन क्यों गया? देखो जो भी चीज विषम हो, अपने स्वभावसे विपरीत चले तो वहाँ परनिमित्त अवश्य है। परसंसर्ग हुए बिना कोई वस्तु विकृत नहीं हो सकती। तो क्या निमित्त है? कर्मविपाक। कर्मोदय कर्मविपाक और ये उपयोगके विकार। इनकी होड़ अनादिकालसे लग रही है। अनादि परम्परासे यह परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावकी रीतिमें बढ़ते हुए अब तक चले आ रहे हैं, और जब तक किसी विधिसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक इसकी धारा में कोई बाधा नहीं डाल पाता, फिर भी प्रकृत्या क्षयोपशमलब्धि होती और बढ़-बढ़कर जब सम्यक्त्व हो, अपने ज्ञानकी सुध हो, स्वभावमें आश्रय हो तो यह कर्म-मेघपटल दूर होता है। तो जैसे-जैसे अवध्यावरण कर्मका विगम विशेष हो, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो वैसे ही वैसे यह अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान प्रकट होता जाता है। अवधिज्ञान देशावधि व थोड़ा अवधिज्ञान हो तो उसका क्षेत्र औरकाल बहुत थोड़ा होता है। कितना होता है कि आत्माके निकट ही रहने वाली किसी चीजको जान पाये और दूरका न जान सके। जो जघन्य अवधिज्ञान है औरकालमें बहुत निकट अन्तर्मुहूर्तकी बातको जान पाये ऐसा जघन्य अवधिज्ञान और जब यह बढ़ता है तो क्षेत्र भी बढ़ता है, कालअवधि भी बढ़ती है। यह नियम नहीं कि जघन्य अवधिज्ञान होकर ही आगेका अवधिज्ञान हो। परमावधि सर्वावधि ज्ञान होता है तो सारे लोकके रूपी पदार्थ जो असंख्याते वर्षके अवधिके भूत-भविष्यके पदार्थ ज्ञानमें आ जाते हैं। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय भी बहुत है। हाँ जो अवधिज्ञानके विषयमें न आ सके ऐसा अनन्त तो अनन्त है। अनन्त कई प्रकारके होते। कुछ ऐसे होते कि जिनका अन्त तो आयगा और नाम है अनन्त और ऐसा भी अनन्त है कि जिसमें अनन्त भी निकल जाये तो भी अक्षय अनन्त रहेंगे। तो जो अवधिज्ञानके विषयसे दूर है उसे भी अनन्त कहते हैं और जो अक्षय है उसे भी अनन्त कहते हैं। तो उस अनन्तसे एक भी कम हो वह असंख्यात माना जाता है, ऐसी असंख्यात पर्याय और

लोकका सारा क्षेत्र अवधिज्ञानका विषय बन जाता है। ऐसा विषय होता है परमावधि सर्वावधिका और ऐसा ज्ञान जिसके प्रकट है वह चरम शरीर होता है। उसके बाद केवलज्ञान होता और मुक्त होते। एक देशावधि ही ऐसी है कि जिसके बाद कुछ नियम नहीं। चारों गतियोंमें यह देशावधिज्ञान होता है। तिर्यञ्च भी अवधिज्ञानी होते हैं, ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसे पशु-पक्षियोंके भी अवधिज्ञान हो सकता है। मनुष्योंके भी हो सकता है। जो श्रावक हैं, घरमें रहते हैं उनके भी हो सकता है। नारकियोंमें भी हो सकता है। जो श्रावक हैं, घरमें रहते हैं उनके भी हो सकता है। नारकियोंमें भी हो सकता है और देवोंमें भी तो अवधिकी कक्षायें बहुत हैं। वे सभी अवधिज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना एक आत्मशक्तिसे प्रकट होते हैं।

आत्माश्रयसे ज्ञानबलका विकास देखो एक थोड़ा-सा उदाहरण जब किसी बालकको या बड़ेका कोई भजन बोलते-बोलते या कोई बात करते-करते भूल हो जाये, याद न आये तो वह दृष्टि कहाँ गड़ाता है? भीतरकी ओर याद करनेके लिए, न कि बाहर पुस्तककी ओर। याद पाने की, स्मृति पानेकी क्या रीति है? तो यह उपयोग जब एक अपने आत्माकी ओर आता है तो इसमें महान बल प्रकट होता है। बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगा-लगाकर अपनेको बलशाली बुद्धिमान समझना यह तो एक झूठी लड़ाईसी लड़ी जा रही है और बाह्य पदार्थोंका विकल्प त्यागकर एक अपने सहज आनन्दमय ज्ञानघन आत्मस्वभावपर उपयोग लगाना एक यह ऐसा सीधाकाम है कि जिसके प्रभावसे अतुल्य बल प्रकट हो सकता है। आत्मबल ही वास्तविक बल है। शारीरिक बलको अगर वास्तविक बल माना जाय तब तो एक बड़ी अलौकिक बात देखनेमें आ रही। उसका अर्थ लगाओ। एक ८ वर्षका बालक १०-१२ बड़े पुष्ट पड़ोंको (भैंसोंको) हाँकता चला जाता है एक छोटा-सा डंडा लिए हुए, और वे सब १०-१२ पड़े (भैंसें) उस बालकके वशमें हैं। अब देखो एक पड़ेमें (भैंसे में) बल कितना है? कई घोड़ोंकी ताकत मिलाकर एक भैंसेके बराबर ताकत होती है। तो इतने बलशाली वे भैंसे एक बालकके वशमें हो गए तो इसमें अन्तर किस बातका है? ज्ञानबलका, बुद्धिबलका, हृदय बलका। तो यह आत्मबल ही एक अमीरी है। बाहरमें अमीरी व गरीबीमें क्या फर्क पड़ता है? कोई बाहरमें बहुत अमीर (धनिक) हो और परमें ममता रहती हो तो उसे चैन कहाँ? एक अमेरिकन, जिसका नाम 'फोर्ड' जिसने 'फोर्ड मोटर' का बहुत बड़ा आविष्कार किया उसे अरबपति कह लीजिए, खबरपति कह लीजिए, वह भी अपने छोटे-छोटे नौकरोंको देखकर उनसे बहुत ईर्ष्या करता था। उनको हँसते-गाते, काम करते देखकर वह अपनेको बड़ा दुःखी और उनको बड़ा सुखी अनुभव करता था। अब बतलाओ यहाँ रहता है एक अकेला यह चिन्मात्र और कुछ तो रहता नहीं। जो चिन्मात्र तत्त्व है वही तो रहेगा। मगर यहाँ कहाँ-कहाँ उपयोग देकर और क्या-क्या अपना बिगाड़ किया जा रहा है? जैन शासन पाया, अमूल्य समागम पाया तो उसका सदुपयोग कर लें, नहीं तो यह दुर्लभ अवसर पुनः मिलना कठिन है। दिन तो कटते ही हैं। सबके कटते हैं, विषयों मेंकाट लिया दिन तो उसमें सार कुछ न मिलेगा और एक ज्ञान ध्यान संयम वैराग्यमें दिनकाट लेंगे तो भविष्यमें जब तक

संसार है तब तक अतुल वैभव मिलेगा और अन्तमें मुक्ति प्राप्त हो जायगी, संसारके सारे संकट मिटेंगे। बोलो यहाँ दिल फंसानेमें लाभ है या अपने आपमें दिल लगानेसे लाभ है? और बड़े-बड़े ज्ञानविकास होते हैं, उनका साधन है आत्माश्रय। इसी पौरुषमें यह अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ। यहाँ सम्यक् अवधिज्ञानकी बात चल रही है। सम्यग्दृष्टिके होता, ज्ञानियोंके होता और वह अवधि कोई बड़ी चीज नहीं है। इच्छाओंका अभाव है, एक आत्माकी लगन हो ये सारे विलास ज्ञानविकास ये सब स्वयं अभ्युदित हो जाते हैं। तो जब निरावरण होकर यह ज्ञान सारे लोकालोकको जान सकता है, ऐसा यह केवलज्ञानसे ही होता है, तब यथायोग्य किन्हीं संसारी जीवोंके ऊपरी रूपी पदार्थ उस भूत-भविष्यका बाहरी पाटीका एक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाये तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। नियमतः अवधिज्ञान ज्ञानविशेष है।

मनःपर्ययज्ञानकी ज्ञान विशेषता अब मनःपर्ययज्ञानके विषयमें चिंतन करें। दूसरेके चित्तमें आये हुए पदार्थका ज्ञान कर लेना मनःपर्ययज्ञान है। जहाँ केवलज्ञान हो सकता है वहाँ मनःपर्ययज्ञान बने तो इसमें क्या आश्चर्य? यह भी इन्द्रिय मनकी सहायता बिना आत्मीय शक्तिसे प्रकट होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भविष्यकी बात भी जानता और बताते ही हैं पुराणोंमें कि अमुक दिन यह होगा, अमुक भवमें यह होगा। तो जहाँ एक भवकी बात बता दी, एक दिनकी बात बता दी उसका अर्थ यह कि सभी समयोंमें जो कुछ है वह सब जानते हैं। मगर पदार्थमें जो विषम परिणमन होता है उसका जो विधान है उस विधानमें जैसा उपादान निमित्तका योग उस विधानसे योग्य उपादान अनुरूप परिणमता है ऐसा ही होता चला जायेगा, ऐसे विधानपूर्वक जो कुछ हुआ, जो कुछ हो रहा है, जो कुछ होगा वह एक निर्मल ज्ञानीने जान लिया। मनःपर्यय परकीय मनोगत अर्थको जान लेता है। इसका भी विषय भूत-भविष्य वर्तमान सभी अवधिसहित है।

सर्वजघन्यज्ञानका स्वामी देखो ज्ञान सर्वजघन्य अवस्था क्या होती और सर्वोत्कृष्ट अवस्था क्या होती है? निगोद जीव सूक्ष्म लब्धपर्याप्तकके किस समय जघन्य ज्ञान होता सो सुनिये, देखो किसकी चर्चा चल रही? निगोद जी की। जिसके बारेमें कहा है “एक श्वाँसमें आठ-दस बार। जन्म्यो मर्यो सह्यो दुःख भार॥” हाथकी नाड़ी एक बार उचकनेमें जितना समय लगता है उतनी देरमें १८ बार जन्म-मरण होता है। इस श्वाँसकी बात नहीं कह रहे जो मुखसे निकलती है। मुखसे निकलनेकी श्वाँसमें तो बड़ी बेईमानी चल सकती है, कहोकाफी देरमें श्वाँस मुखसे बाहर निकली जाये? कोई ऐसा करे तो भी कहीं उससे निगोद जीवोंकी आयु लम्बी तो न हो जायेगी। यहाँ हाथकी नाड़ी में कोई बेईमानी नहीं कर सकता। हां, कोई कमजोर पुरुष हुआ तो उसकी नाड़ी तो कुछ मंदी चलेगी या तेज, मगर स्वस्थ पुरुषकी नाड़ी ठीक उचकती है। तो उस नाड़ीके एक बार उचकनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें १८ बार जन्म होगा। देखो जन्मका ही नाम मरण है और मरणका नाम जन्म है। कोई ऐसा न सोच ले कि यह तो जन्म-मरण दोनोंका मिलाकर ३६ बार हो गया। तो जब गणितसे हिसाब लगाया जायेगा तो एक सेकण्डमें करीब २२-२३ बार जन्म-मरण हो जाता

है। ऐसे तो हैं वे निगोद जीव, जिसपर भी सूक्ष्म निगोद, और तिसपर भी लब्धयपर्याप्त। अब समझो, कितने जघन्य जीवोंकी बात कह रहे हो, जो अनेक बार खूब जन्ममरण करके अनेक अनेक भवोंमें एकत्र रह रहे और मरकर कहीं बहुत दूर चले जायें निगोद बननेके लिए और मोड़ा लेकर जाय उस जीवके उस समय पहले मोड़के समय जो ज्ञान रहता है वह सर्व जघन्य ज्ञान रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य जीवोंके ज्ञान इससे अधिकाधिक मिलेंगे। उस जीवके जब कुछ अपने आप संक्लेशमें कुछ हीनता होती है उनका ज्ञान बढ़ता है।

बहिरंग निमित्त और अंतरंग निमित्तके विश्लेषणका दिग्दर्शन बताओ उन जीवोंका क्या वश चले? विशेष ज्ञान नहीं, मन नहीं और वहाँ कोई परिचय नहीं, जिनके वे कर्मका आश्रय लें? ये कर्मोंको नहीं जान सक रहे वे निगोद और उनके पास नहीं चिपका रहे अपने उपयोगको तो क्या उनके विकार हट जायेंगे। वे तो नैमित्तिक हैं, हो गए। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जब हम आप लोगोंको ज्ञान मिला तो हम इस आश्रयभूत निमित्तका आश्रय न करें, आधीनता न सोचें, इसको दिलमें न रखें। इससे हमारी प्रगति चलेगी। ये बाहरी पदार्थ ऐसे हैं कि इनमें उपयोग दें तो ये निमित्त कहलायेंगे, न उपयोग दें तो निमित्त न कहलायेंगे। मानो कोई एक छोटी उम्रकी महिला है तो उसको पिता तो देखता है और तरह से, भाई देखता है और दृष्टि से, स्वसुर देखता है और दृष्टि से, पति देखता है और दृष्टि से। अरे वह तो एक ही है, अगर वह किसीके भावका निमित्त हो तो सबके एक ही किस्मके भाव बनना चाहिए था, मगर जिसकी जैसी दृष्टि है उस दृष्टिके अनुसार उस बाह्य पदार्थका आश्रय लेकर वह अपने वैसे विकल्प बना रहा। देखो ये बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत कहलाते। इनको उपचरित निमित्त बोलते हैं। मगर कर्मविपाक जो चल रहा है वह उपचरित निमित्त नहीं है। हम जानते हों तो, न जानते हों तो। न जानने वाले तो अनंतानंत जीव हैं। जैसा जो कुछ दुनियाके और पदार्थोंके साथ निमित्तनैमित्तिक व्यवहार है वहाँ भी चल रहा है, सो ही विधि यहाँ है, पर यह फर्क हो जाता है कि जो ज्ञानी जीव बाह्य विषयोंका इन पदार्थोंका आश्रय नहीं लेते उनके व्यक्त विकार नहीं होता, हां अव्यक्त विकार रहते हैं, वे विकार व्यक्त नहीं हो पाते, और विकार व्यक्त न हो पायें, तो उनके चोट नहीं लगती है। वे बहुत साधारण आस्रव बंधके हेतु होते हैं, जिनको अध्यात्मशास्त्रमें दृष्टिमें नहीं लिया है, करणानुपयोग उन विकारोंका वर्णन करता और कुछ ऐसा समझ लो।

सम्यक्त्वकी अनंतसंसारच्छेदकता किसी जीवने सम्यक्त्व पा लिया तो सम्यक्त्व पानेसे अनन्त संसार कट गया ना? अब रह गया मान, लो करोड़ वर्षका संसार या कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन सही, यह इतना बड़ा संसार इस अनन्त संसारके आगे क्या गिनती रखता है? जैसे किसीपर एक लाखका कर्ज हो और ६६६६६) रु० अदा कर चुका हो, केवल १) रुपयेका ही कर्जा शेष रहा तो उसे लोग कर्जा भी नहीं कहते इतने बड़े धनके सामने, ऐसे ही समझ लो कि जहाँ सम्यग्दृष्टि जीवोंका अनंत संसार मिट गया वहाँ ये करोड़, अरब-खरब वर्ष कुछ-कुछ गिनती भी रखते हैं क्या?

अरे उनकी कुछ भी गिनती नहीं है। एक जगह यह कथानक आया है कि कोई एक श्रावक किसी समवशरणमें जा रहा था तो उसे मुनि महाराज रास्तेमें मिले। मुनि महाराजने उस श्रावकसे कहा कि तुम समवशरणमें जा रहे हो वहाँसे हमारे विषयमें जानकारी करके आना कि अभी हमारे कितने भव शेष हैं? वे मुनिराज उस समय एक छेवलेके पेड़के नीचे बैठे हुए थे। छेवलेके पेड़में तो देखा होगा कि बहुत कम पत्ते होते हैं। खैर, वह श्रावक जब समवशरणमें पहुंचा और प्रश्न किया कि अभी अमुक मुनि महाराजके कितने भव शेष हैं? तो गणधर देवने वहाँ उत्तर दिया कि वह मुनिराज जिस वृक्षके नीचे बैठे होंगे उसमें जितने पत्ते होंगे उतने भव अभी शेष हैं। तो वह श्रावक जब वापिस आया और मुनि महाराजको एक इमलीके वृक्षके नीचे बैठा हुआ पाया तो अपना माथा धुनते हुए बड़े खेदके साथ बोला “महाराज! अभी तो आपके बहुत भव शेष हैं। समवशरणमें बताया है कि जिस वृक्षके नीचे बैठे हुए हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने भव अभी शेष हैं, तो वहाँ मुनि महाराज बोले अरे श्रावक तू व्यर्थ दुःखी क्यों होता? अरे गिनती तो आ गई। उस अनन्तकालके सामने ये लाख, करोड़, अरब भव कुछ भी तो गिनती नहीं रखते। और ये लाखों, करोड़ों भव तो एक ही दिनमें खतम किए जा सकते हैं। तो जैसे कहते हैं ना, कला शृंगार, एक शोभाकी बात। सार बात बस यही है आत्माके सहजस्वरूपको जानकर उस रूप अपनेको अनुभव करें कि मैं तो यह हूँ, और झगड़े सारे खत्म। बाकीके जो और विवाद उठ खड़े होते उनसे आत्मा ऐसा झुंझला जाता और भीतरमें ऐसा कषाय बैठ जाता कि वह स्वभावश्रय करनेका पात्र नहीं रहता। उनसे हमें क्या प्रयोजन? तो एक निर्णय है अपनेको निज सहज स्वभाव मानना कि यह मैं हूँ और मेराकार्य इसके अनुरूप केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है। बात केवल यह है, ऐसा पाना है, बस यही एक धुन रहनी चाहिए, फिर आपकी कहीं अरक्षा नहीं है।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानकी अबाधित अध्यक्षता ये अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये तीन अतीन्द्रिय ज्ञान हैं, इनका बाधक कोई प्रमाण नहीं है जिससे कि इसकी प्रमाणतामें बाधा आये। न युक्तिसे बाधा, न आगमसे और न प्रत्यक्षसे बाधा। जो इन्द्रियप्रत्यक्ष है उसका तो विषय ही नहीं। बाधा कैसे वह डालेगा? युक्तियाँ ऐसी अबाधित हैं जैसी कि जो अभी कुछ कहीं। जिससे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये सिद्ध हो जाते हैं। दोनों ज्ञानोंमें कला है ना जानने की। जाना, कितना जाना? मेरा तो जानना जबकाम है तो उसमें अवधि क्या कि कितना जाने? वह तो जब तक दबा है सो कम जानता है। और उसका आवरण हट जाये तो वह तो सर्व जानेगा, पर युक्तिसे सोच लो। जो चीज किसी उपाधिके मिलनेसे घटती है और उपाधिके दूर होनेसे बढ़ती है, यदि उपाधि बिल्कुल दूर हो जाये तो वह अपने प्रकर्षमें आयगा कि नहीं? तो यह ज्ञान जब रागादिक आवरणादिक अंतरंग बहिरंग उपाधियोंके संसर्ग घटते हैं और इनके वियोगसे बढ़ते हैं तो जहाँ वियोग होता है वहाँ यह सम्भव है कि सर्वथा भी वियोग हो सकता। तो जहाँ आवरणका सर्वथा वियोग हो वहाँ ज्ञान पूरा प्रकट हो जायेगा। युक्ति बताती है, आगम बताता है, अनुभव बता देगा। इस

प्रत्यक्षज्ञानके माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं। तो मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्में जो ५ विशेष बताया है वह बिल्कुल ठीक है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान बतावेंगे वे इन ५में शामिल हो जायेंगे, कोई छूटा नहीं। और इनसे अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। ये ५ ज्ञान विशेष हैं और ये सभीके सभी ज्ञान कहलाते हैं, दोनों तरह से अवधारण है। ये ५ ही ज्ञान हैं, दूसरा कोई ज्ञान नहीं कुमति कुश्रुत वगैरह। ये ५ ज्ञान ही हैं, इनमें अज्ञानका लवलेश नहीं। इस तरह उमा स्वामी महाराजने जो सूत्रमें रचनाकी वह दार्शनिक दृष्टि से, करणानुयोग से, अध्यात्मदृष्टि से, सभी दृष्टियोंसे इसके क्रम नाम सभी संगत बैठते हैं। इस तरह ५ ज्ञानोंके बारेमें कुछ स्वरूपका वर्णन किया। अब इसके सम्बन्ध में जो कुछ स्फुट आशंकायें हो सकती हैं उनका विवरण चलेगा।

आत्महितभावना सहित वाचन श्रवणकी उपयोगिता शान्ति पानेकी विधि, धर्मधारणकी विधि, जिन वचन सुननेकी विधि, जिनवचन पठन वाचन करनेकी विधि, कषाय मंद करके, बाहरी उपयोग हटाकर एक निजहितकी ही भावना रखकर बनती है। हितमय, शिवरूप मंगलमय जो निजका सहज स्वरूप है उसके आलम्बनकी भावना हो तो हमारे ये दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सत्संग आदि सब सफल हो जाते हैं। श्री उमास्वामी महाराजके इस रचित ६वें सूत्रमें ज्ञानकी बात चल रही है, किसकी बात चल रही है? जिसमें कषायका नाम नहीं, जहाँ कटका नाम नहीं, ऐसा ज्ञानस्वरूप, किन्तु उपाधिका संसर्ग पाकर और उपयोग द्वारा बाह्य पदार्थोंमें रमकर याने उपचरित निमित्त आश्रय कर वास्तविक निमित्तके सान्निध्यमें यह दशा चलती है। वहाँ यह समझना चाहिए कि ये सब विकार औपाधिक हैं, मेरेको बरबाद करनेके लिए आते हैं, ये महिमान हैं, महिमा नहीं जिनकी, हमारे लिए जिनका कोई महत्व नहीं, मेरेको बरबाद करने आते हैं विकार। विकार मेरा स्वरूप नहीं। ये मेरे स्वरूपसे ही उठे, मेरे स्वभाव से नहीं आये। मुझको मूढ़ बनना पड़ा, ऐसी ही मेरी योग्यता और ऐसा ही निमित्त सन्निधान कि यह बात बन रही है, पर ये सब मैं नहीं हूँ। मैं तो एक चैतन्य सत् हूँ और जिसको बहुत सुगमतया समझना हो तो अपने आपमें मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान मात्र हूँ ऐसी अन्तरमें दृष्टि रहे। उस ही ज्ञानस्वभावकी पर्यायके बारेमें बात चल रही है। ये ज्ञान विशेष ५ होते हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, इन ५ ज्ञानोंका सामान्यतया स्वरूप अब तक कहा गया है। अब कुछ इसमें विशेषतायें बतायी जा रही हैं।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें एकत्वकी आशंका पहली बात यह सामने आ रही है कि मति, श्रुत ये दो ज्ञान अलग-अलग क्यों कह गए? ये तो दोनों एक ही बात हैं? कैसे एक बात है कि देखो मति श्रुत ये सहचर हैं, ये साथ रहा करते हैं, साथ चला करते हैं। बताया ही गया है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनादिकालसे चले आ रहे हैं। अज्ञानअवस्थामें कुमति कुश्रुतरूप तो चलो सम्यक्त्व हो गया तो उनका बन गया मति श्रुत रूप, पर मति श्रुत तो चले आ रहे हैं, इनमें साहचर्य है, सो फिर ये एक हो गए, उन्हें दो कैसे कहा? यह सब शंकाकारकी शंका चल रही है और देखो ये दोनों एक ही जगह रह रहे हैं। एक ही आत्मामें रहते हैं। कोई आत्माके प्रदेश भिन्न हैं क्या मतिज्ञान आत्माके

इतने हिस्सेमें रहे और श्रुतज्ञान आत्माके इस हिस्सेमें रहे, जब ये दोनों एक साथ एक जगह रह रहे हैं तो ये एक ही हैं, इनमें नानापन नहीं है। तीसरी बात यह देखनेमें आ रही है कि मति और श्रुतज्ञान में कोई विशेषता नजर नहीं आती। सभी जीवोंके हो रहा है। मति भी परोक्षज्ञान है, श्रुत भी परोक्षज्ञान है, और उस परोक्षताके नाते इसमें कोई विशेषता नहीं, इस कारण से मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकता है। एक ही चीज है, इनको अलग-अलग दो संख्यामें क्यों कहा गया? शंकाकार अपनी शंका कह चुका।

साहचर्य और एकत्रावस्थान हेतुसे मति श्रुतमें नानात्व सिद्ध हो जानेसे शंकाकारोक्त इन दो हेतुओंमें विरुद्ध हेत्वाभासता अब समाधानमें कुछ विचार करके देखें तो जो बात शंकाकारने मति और श्रुतज्ञानको एक करनेके लिए कही वह ही मति और श्रुतको भिन्न-भिन्न बतानेके लिए हेतु बनती है। पहला हेतु दिया था कि यह सहचर है, एक साथ रहता है, एक साथ चलती है तो इसीसे ही सिद्ध हुआ कि ये दो अलग-अलग हैं। जो साथ-साथ चले, साथ-साथ रहे वह एक क्या? कोई एक हो तो क्या उसमें यह कहा जायेगा कि ये साथ-साथ रहे? अरे दो हों तो कहा जायेगा कि साथ-साथ जाते हैं तो साहचर्य हेतुसे तो यह सिद्ध होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों अलग-अलग ही हैं। देखो समझो, तुम्हारी वर्तमान हालतकी बात कही जा रही है। जो ज्ञान जगता है भीतर वह दो तरहसे जग रहा है। सभी लोग खूब सोच लो इन्द्रिय और मन से कोई बात जान ली, जानते कि नहीं और उस इन्द्रिय मनसे जानी हुई बातके बारेमें कुछ और अधिक सोचना है, विचारना है, समझना है तो यही हो गया श्रुतज्ञान। पहले तो गया मतिज्ञान। तो यह मतिज्ञान और यह श्रुतज्ञान ये दोनों हम आपके चल रहे हैं। उसीके बारेमें प्रश्न हुआ था कि जब दोनों एक साथ रहते हैं, चलते हैं तब ये एक होना चाहिए। तो उत्तर सीधा हो गया कि जब एक साथ रहते हैं, चलते हैं, तब ये एक होना चाहिए। तो उत्तर सीधा हो गया कि जब एक साथ रहते हैं तो दो अपने आप सिद्ध हो गए। दूसरा हेतु शंकाकारने यह बतलाया था कि ये दोनों एक आत्मामें रहते हैं इसलिए एक हैं। तो इससे ही सिद्ध है कि ये अनेक हैं, एक जगह ये रहें तो उससे ही सिद्ध है कि अनेक हो गए। एक घरमें रहते हैं १० आदमी, तो अपने आप सिद्ध हो गया कि वे १० अनेक हैं, वे १० एक नहीं हैं। जैसे कहा कि एक आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदिक अनेक गुण हैं तो इनके कहनेसे ही सिद्ध हो गया कि वे गुण अनेक हैं।

अशुद्ध नय शुद्ध नयके विषयकी संक्षिप्त चर्चा अब देखो जिस दृष्टिमें जो बात कही जाये उसको उस दृष्टिमें समझना। अब भेदनयकी दृष्टिमें कहा जा रहा है कि गुण अनेक हैं उस दृष्टिमें अनेक समझ लो, मगर शुद्धनयसे देखने पर, स्वभाव दृष्टिसे निरखनेपर तो यह ज्ञान होता है कि गुण तो हैं नहीं, एक अखण्ड चैतन्यशक्ति मात्र है। स्याद्वादका इतना बड़ा उपकार है कि जो एक सही मार्गमें इस जीवको लगा देता है। नयोंका प्रयोग किस तरह करना, प्रमाणका प्रयोग कैसे करना? इन बातोंका परिचय न होनेपर यहाँ कुछ उलझन होती है, विसम्वाद होता है। रीति यह है कि जिस

नयसे कहा जाये उस नयके विषयको ही उस मूडमें तकना चाहिए, अन्य नयोंके विषयका विरोध न करना चाहिए। उसकी चर्चा ही नहीं। उसका निषेध करनेका ही यहाँ अवकाश नहीं, क्योंकि जिस नयके मूडमें लगा रहे उस ही नयके विषयको समझना है और यदि दूसरी बातके सम्बन्धमें बोलना है तो उस नयके मूडमें आइये और उस नयकी बात करें। तब इसके विरुद्ध बात एक आत्मामें अभी तक जा सकती है कि देखो बतलाओ यह जीव कषायोंसे भरा हुआ है कि नहीं? एक दृष्टिसे देखो तो कषाय कलि हो रहे, कषायें समग्र प्रदेशोंमें छायी हैं, और एक स्वभाव दृष्टिसे देखो तो कषायोंका नाम ही नहीं, स्वभावदृष्टिमें स्वभावस्वरूपका जा रहा है। एक नयसे देखते हैं तो यहाँ कषायों कीकालिमा भरी पड़ी है। एक नयसे देखते हैं तो यहाँ शान्ति ही शान्ति है। आश्चर्य होता है कि कैसे हो गई कषायें? यह तो स्वभाव है ही नहीं। तो जिस नयसे जब जो बात हुई हो तब उस नयको ग्रहण करके समझना चाहिए। और उस वक्त वक्ताके मूड (दिमाग)में अपना मूड (दिमाग) मिलाकर सुनना चाहिए। लेकिन वक्ताको भी चाहिए कि वह सप्रतिपक्ष वर्णन करे। जब वर्णन ही करने बैठे हैं तो वहाँ दोनों नयोंके विषयोंको बताते जायें। एक-एक वाक्यमें समयसारमें व्यवहार और निश्चय दोनोंकी बात कही है। जहाँ यह कहा कि आत्मा किसका कर्ता भोक्ता है तो उसकी विधि बताते हुए कहते हैं कि दृष्टान्तमें कि जैसे वायुके चलने और न चलनेके निमित्तसे समुद्रमें तरंग और निस्तरंग अवस्था होती है। तो भी वह समुद्र तो अपने आपमें ही अपनेको तरंग रूप करता हुआ अपनेको ही अनुभवता है और अपनेको निस्तरंगरूप करता हुआ अपनेको ही अनुभवता है। ऐसे ही यह आत्मा कर्मविपाकके उदयके निमित्त और कर्मके विपाकके अभावके निमित्तसे यह जीव संसार निःसंसार अवस्थाको पाता है। फिर भी यह जीव ही तो संसरण, संसार रूप, विभावरूप हुआ अपनेको तकता है इस तरह और अनुभवता है और निःसंसाररूप होता अपने आपको ही परिणामाता हुआ अपनेको करता और भोगता है। व्यवहार और निश्चय ये दोनों सम्यग्ज्ञानके अंश हैं। हां उपचार एक रूढ़ि है, भाषा है, लौकिक भाषा है। एक बड़ा ध्यान देनेकी बात है कि बहुत साधारणसी बात होने के कारण याने लोग तो समझदार होते ही हैं, परख सकते हैं, तो व्यवहार शब्दका प्रयोग सम्यग्ज्ञानके अंशरूप व्यवहारके लिए भी होता है और व्यवहारका प्रयोग उपचारके लिए भी होता है, पर ऐसा सामान्यतया ज्यादा विश्लेषण नहीं किया। आचार्य संतोंने व्यवहार व्यवहार शब्दसे कहीं श्रुतज्ञानांश व्यवहारके लिये कभी उपचार अर्थमें व्यवहारका प्रयोग किया। उपचारकी बातको भी कभी-कभी उपचार शब्द देकर भी कह देते और कभी व्यवहार शब्द कहकर भी कहते हैं तो उसका कारण यह है कि वह एक इतनी साधारणसी बात थी कि उनकी समझमें न आया ऐसा कि लोग यहाँ विवेक न कर पायेंगे कि यह व्यवहार तो सम्यग्ज्ञानके अंशके लिए प्रयुक्त है और व्यवहार उपचारके लिए प्रयुक्त है। उपचारमें तो ऐसी बात है कि उपचार जैसा कहे वैसा असत्य है। उसका अर्थ लगाना चाहिए कि वैसा नहीं है, और प्रकार है, पर व्यवहारमें जो कि सम्यग्ज्ञानका अंश है उसमें यह बात घटित नहीं होती कि व्यवहारनय जैसा कहता है सो असत्य है। व्यवहारनयने बताया कि

आगका निमित्त पाकर कागज जल जाता है तो हम इसे असत्य कैसे कह दें? उपचारने बताया कि आगने कागज जला दिया, हां ऐसा ही समझें तो असत्य है, क्योंकि आग जो अपने प्रदेशमें अपनी उष्णताका परिणमन करेगी, अन्य पदार्थमें परिणति न करेगी।

तत्त्वाधिगमके उपायोंके दिग्दर्शनमें प्रमाण और नयोंका विवरण होनेसे उनमें असत्यताका अभाव ऐसा ध्यानमें रखें कि यह सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी बात चल रही है और पहले अध्यायमें पूरे सम्यग्ज्ञानकी ही बात है। थोड़ासा प्रसंग पाकर थोड़ा सा कुमति, कुश्रुत, कुअवधिके बारेमें बताया, सो अलगसे सूत्र लिखा है “मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च तथा सदसतोरविशेषादृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।” जहाँ छोटे ज्ञानकी बात करते हैं वहाँ दो सूत्र आये हैं, जिसमें कुज्ञानकी बात करी, मायने अप्रमाणकी बात करी, और अन्तिम सूत्रमें नयोंकी बात करी। नयके विषयमें जहाँ प्रतिज्ञाकी कि प्रमाणनयैरधिगमः प्रमाण और नयोंसे तत्त्वका अधिगम होता है। जिसके द्वारा अधिगम होता है वह यदि असत्य है तो अधिगम क्या सत्य होगा? जिसके द्वारा हमने जाना वह ज्ञान यदि असत्य है तो जो जानकारी बनी क्या वह सत्य बन जायेगी? वह भी असत्य हो जायेगी। तो प्रमाण नयोंके द्वारा सच्चा ज्ञान होता है कि झूठा ज्ञान होता है? सच्चा ज्ञान होता है। और नयोंके भेद बताये गए नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋतुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और भूतनय इन ७ नयोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान होता है कि असत्य? सत्य। उनका जो निश्चय है, जो जाना है वह सत्य है, क्योंकि नय सत्य है। इनके द्वारा अधिगम बताया गया है।

आश्रयभूत निमित्त व अन्वयव्यतिरेकी निमित्त इनका तथा अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार इनका अन्तर समझनेसे निर्विसंवादता व शान्तिका उद्भव थोड़ा दो जगह भेद प्रदर्शन रखकर आगमकी कथनी सुनना और कहना चाहें सो बड़ा स्पष्टीकरण होगा, विसम्वाद न रहेगा और बहुत शांति मिलेगी। दो बातें क्या? एक तो समझना चाहिए आश्रयभूत निमित्त और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, तथा दूसरी बात समझनी चाहिये अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार। देखो जीव और अजीव तो दो ही कारण माने गए हैं (१) उपादान और (२) निमित्त। काठधरा है और वहाँ आग पड़ी है तोकाठ जल गया। तो वहाँ उपादानकाठ है और निमित्त आग है। सोकाठ जल गया या हवा चली तो पत्ते झड़ गए, तो पत्ता उपादान है जो अपनेमें क्रिया कर गया। हवाका चलना निमित्त है। जहाँ अजीव ही हो वहाँ तीन बातें न घटित होंगी। वहाँ दो ही बातें होती हैं (१) उपादान और निमित्त, लेकिन जीवके विकारके प्रसंगमें तीन बातें हुआ करती हैं (१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। चूंकि यह उपयोगात्मक है ना, विकारस्वरूप है तो जो विषयभूत है उसे भी निमित्त कहते हैं और जो निमित्त है उसे भी निमित्त कहते हैं। तो ये तीन बातें आती हैं जीवके विकार में, अन्य जीव अजीवके प्रसंगमें ये तीन बातें नहीं होतीं। तो जब ये तीन बातें हुईं तो कुछ तो अन्तर तो होगा ही ना, आश्रयभूत और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त में। आश्रयभूत निमित्तकी यह स्थिति है कि हम यदि उपयोग लगायें, उसमें उपयोग जुटायें तो वह निमित्त होता है अन्यथा निमित्त नहीं, और

इसीको कहते हैं परका आश्रय करे तो निमित्त है, नहीं तो नहीं। यह बात है आश्रयभूत निमित्त में। यह जान-जानकर बुद्धिपूर्वक इस बाह्य विषयभूत पदार्थका आश्रय लेते हैं और अपनेमें विकार व्यक्त करते हैं तो परका आश्रय लेनेसे क्या होता है? व्यक्त विकार। और जहाँ परका आश्रय न लें और कर्मविपाक भी नहीं है तो विकार स्थिति न बनेगी। और परका आश्रय न लें और कर्मविपाक चलता रहे तो वहाँ अव्यक्त विकार होगा। जैसे जब कोई चीज बड़ी तेजीसे घूमती है। जैसे यह पंखा बड़ी तेजीसे चल रहा है तो उसका जो केन्द्रबिन्दु है, ठीक बीचका स्थान है वह किसीको घूमता हुआ व्यक्त नजर नहीं आता, और उस पंखे कीको पंखुड़ियां हैं वे व्यक्त घूमती हुई नजर आती हैं। और कोई यदि उन पंखुड़ियोंमें एक चद्दर बांध दे या उसमें कुछ लटका दे तो उसका घूमना व्यक्त नजर आता है। तो ऐसी व्यक्त अव्यक्तकी बात है, कुछ नजर नहीं आती, कुछ नजर आती, कुछ यों ही होता, तो देखो अध्यात्मशास्त्रका और करणानुयोगका परस्पर विरोध नहीं है, जो यह कहा जाये कि वह व्यवहारका विषय है, तो जिसे कहते हैं सो नहीं है, वह झूठ है। व्यवहारमें यह बात घटित नहीं होती। उपचारमें यह बात होती है। जो लोकरूढ़ि है उसमें यह बात है कि जैसा कहे वैसा नहीं। देखो इस वर्णनका विरोध कैसे नहीं? अव्यक्त विकारका वर्णन करणानुपयोग करता है, व्यक्त विकारका भी करता है, अध्यात्मग्रन्थ व्यक्त विकारकी बात कहता है कि ज्ञानी जीव के, सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रवभावनाका अभिप्राय न होनेसे वह निरास्रव है। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोंका ही तो निरास्रवपना है कि शेष सब कर्मप्रकृतियोंका निरास्रवपना है? तो शेष प्रकृतियोंका जो आस्रव चल रहा है वह अप्रत्याख्यानावरणादिक निमित्तोंका पाकर चल रहा है। श्रेणीमें जहाँ बुद्धि विकारको नहीं ग्रहण करती, बुद्धि एक स्वमें है और वहाँ भी विकार चल रहा है अव्यक्त विकार। आस्रवके मायने विकार। तो अव्यक्त विकारका वहाँ बराबर निमित्तनैमित्तिक योग चल रहा है।

कर्तव्य और उदाहरणपूर्वक निर्णय अपनेको करनेकाकाम है बुद्धिपूर्वक। हमें क्या समझना, क्या करना, कैसे करना, बस उसी बुद्धिपूर्वक चर्याके आधारसे ही तो हमारे सुधारका उद्यम है, हमें विषयोंमें न प्रवर्तना, कषायोंमें न लगना और एक कषायरहित जो आत्माका शुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसकी उपासनामें लगना। लगते हैं, करते ही यह हैं, दूसरी बात न सोचें कि और बातें हो रही हैं, अव्यक्त विकार हो रहे हैं, सोचनेकी जरूरत नहीं है, जो है उसका निर्णय कर लिया। अब उन बाहरी निर्णयोंको हमें सदा चित्तमें नहीं रखना है। निर्णय न हो तब तो नुकसान है, निर्णय हो सही तो अब जो हमारा प्रायोजनिक है उसका आश्रय लेनेमें हमारा कल्याण है। प्रयोज्य क्या है? यह शुद्ध आत्मतत्त्व, सहज आत्मस्वभाव, यह शक्तिमात्र चैतन्यस्वरूप, जो मुनियोंके मनमें निरन्तर निवास करता है, उसका आश्रय लें। तो देखो एक बात तो यह समझनी है निमित्तके बारेमें कि निमित्त दो तरहके होते हैं दृष्टिमें यह रख लें, फिर सबका उत्तर मिल जायेगा। जो लोग शंका रखते हैं या जो लोग ऐसा विश्वास रखते हैं कि समवशरणमें जायें तो सम्यग्दर्शन हो, समवशरणमें जाना सम्यक्त्वका निमित्त हैं और कहते हैं कि समवशरणमें तो यह जीव अनेक बार गया, सम्यक्त्व तो हुआ नहीं, बात

दोनों ओरसे ठीक है। एक बोल रहा है बहिरंग निमित्तकी दृष्टि से, एक बोल रहा है कि यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नहीं है कि जिसको सम्यग्दर्शन हो, समवशरणमें पहुंचे तब ही हो और न पहुंचे तो न हो, समवशरणमें पहुंचे तो ऐसा नियम नहीं है, इसलिए ये बाह्य साधन कहलाते हैं। वास्तविक निमित्त तो हैं दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियाँ और ४ चारित्रमोह की, यों ७ प्रकृतियोंका उपशम, श्रय, क्षयोपशम यह अन्तरंग निमित्त हो तो यहाँ व्यभिचार न पड़ेगा कि जिसको सम्यक्त्व हो गया हो और इसका उपशम, क्षय क्षयोपशम न हुआ हो फिर भी सम्यक्त्व हो जाये या किसीके उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो और न हो सम्यक्त्व यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नहीं है। अब जैसे बताया गया है ना, किसीको देवऋद्धिके देखनेसे सम्यक्त्व होता किसीको वेदनाके अनुभवसे सम्यक्त्व होता तो ये सब बाह्य साधन हैं, इनके साथ अविनाभाव नियम नहीं है, तो ये दो प्रकारके निमित्त जाननेसे अनेक समस्याओंकी उलझन दूर हो जाती है। इसी प्रकार व्यक्त विकार और अव्यक्त विकार, इनका निर्णय हो जानेपर बहुतसे विकार समाप्त हो जाते हैं।

संसारणमुक्तिके लिये अपने प्रारम्भिक कर्तव्यका दिग्दर्शन अपनेको करना क्या? वह तो स्पष्ट बात है। व्यवहारनयका विरोध न कर मध्यस्थ होकर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको नष्ट करता हुआ अपनेको परसे विविक्त निज ज्ञानस्वरूपमय अनुभव करना, यह मैं हूँ, बस यह है अपनी प्रगतिका उपाय, यह है मुक्तिका साधन। तो जहाँ साधनकी बात कही जाये वहाँ तो एक लक्ष्य होता है और देखें लोग साधनमें विवाद तो करते नहीं और अन्य निर्णयके प्रसंगमें विवाद करते हैं। किसीको बहुत ही ज्ञान न हो और एक अन्तःस्वभावका बोध हो वह कल्याणमार्गमें लग जाता है। पशु-पक्षी वगैरह तो जीव, अजीव, आस्रव आदिके नाम भी नहीं बोल सकते हैं, अरे जिनकी जीभ इतनी मोटी कि बांय-बांय करते ओं-ओं करते, चीं-चीं करते, अक्षर भी नहीं बोल पाते, ऐसे बंदर, भैंसा, बैल वगैरह जो तत्त्वोंके नाम भी नहीं जानते, व्याख्यान नहीं समझते, कोई भीतरी विश्लेषणका चिन्तन नहीं करते, लेकिन प्रायोजनिक बात उनको मिल गई, यह मैं हूँ, भीतर जो लक्ष्यमें आया, एक प्रतिभासमात्र चैतन्यस्वरूप यह मैं हूँ, इतना उनके बोध बना तोकाम बन गया। तो अनेक पशु-पक्षी रहते जीवनभर सम्यग्दृष्टि। कोई बिरला ऐसा भी है कि संयमासंयम पाता है उन पशु-पक्षियों में, मच्छरोंमें जितने वहाँ सम्यग्दृष्टि मिलेंगे वे सब एक इस चैतन्यस्वभावकी भासनापर मिलेंगे। देखो संसारमें सम्यग्दृष्टियोंकी ज्यादा संख्या तिर्यञ्चोंमें है। मनुष्योंमें नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्चोंमें हैं मनुष्योंमें नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यच सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मनुष्यकी अपेक्षा कम हैं। आखिर तिर्यचलोकका कितना बड़ा विस्तार है? कितनी जगह तिर्यञ्च, ढाई द्वीपके बाहर जो एक द्वीप है अन्तिम, उसका तो इतना बड़ा विस्तार है कि उसके अन्दर शेषके सारे द्वीप समुद्रका जितना विस्तार है उससे अधिक है, वहाँ भी तिर्यञ्च। तो संख्या जहाँ बतायी गई द्रव्यप्रमाणानुगममें तो बताया गया है संयमासंयमी जीवोंकी संख्या तिर्यञ्चोंसे ज्यादा पायी जाती है। अब उससे सम्यग्दृष्टियोंकी संख्याका अनुमान कर लो। जिसे कल्याण करना है उसके लिए उपाय

सुगम है और जिसको आत्महितकी प्रीति नहीं है उसके लिए ज्ञानमें विवाद, आचारमें विवाद, वेषभूषामें विवाद। जहाँ कहीं रहे वहीं अपना विवाद। कषायें जहाँ चाहेकी जा सकती हैं। तो गुणग्राहिता अपने चित्तमें रहना उत्तम है, क्योंकि यह संसार है। यहाँ कोई दूसरा मददगार नहीं है कि जिसका कोई रोग या द्वेष या पक्ष या कोई बात विचार कर अपनेको शरण मान सके कि मैं तो अब शरण हो गया। कोई मददगार नहीं। प्रभुका उपदेश है स्पष्ट कि अपने आपके सहारे चलो। तुम्हारा ही भगवान आत्मा तुम्हारा आलंबन है। तो करनेका तो खुदकाम है ना? तो स्वयंकी ऐसी जिम्मेदारी समझकर हमें स्वयंसे अपना निर्णय लेते हुए अपनी प्रगतिमें चलना है।

शंकाकारोक्त अविशेषत्व हेतुसे भी मति श्रुतमें भेद सिद्ध हो जानेसे अविशेषत्व हेतुके भी विरुद्ध हेत्वाभासता यह प्रकरण है ज्ञानस्वभाव विशेषका। मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें एकता, एक साथ रहते हैं, इस कारण से हो जाये सो नहीं, बल्कि एक जगह रहते हैं, इससे तो अनेकता सिद्ध हो गई, और कोई कहे कि इसमें समानता पायी जा रही है, इसीलिए तो ये दोनों एक हो गए। तो यह हेतु भी विरुद्ध है। जिसमें समानता पायी जाये वे दो रहेंगे एक नहीं। एक साथ पैदा हुए दो बालक जिनकी शक्ल-सूरत एक है, पहिचान नहीं सकते कि यह और है, यह और है। वे भी दो हैं, भले ही समानता है। तो इनमें समानता है, ऐसा कोई कहे तो उससे ही यह जाहिर हो जाता है कि ये दो हैं, भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। तो मतिज्ञान श्रुतज्ञानको एक बनानेके लिए, बतानेके लिए जो शंकाकारने हेतु उपस्थित किया उन हेतुवोंसे यह सिद्ध होता है कि ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं।

मति श्रुतमें एकत्व सिद्ध करनेके लिये शंकाकारोक्त तीन हेतुओंके विरुद्ध हेत्वाभासपनेका उपसंहार कल यह चर्चा थी कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको अलग-अलग क्यों कहा गया? ये दोनों एक हैं और दोनोंको एक सिद्ध करनेके लिए हेतु दिये थे तीन। एक तो यह कि ये दोनों सहचर हैं दूसरा यह कि दोनोंका एक ही वस्तुमें अवस्थान है, और तीसरा हेतु यह कि इन दोनोंमें समानता पायी जाती है। इसका उत्तर दे दिया गया था कि जिन तीन हेतुवों द्वारा तुम मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकत्व सिद्ध करते हो उन्हीं हेतुवों द्वारा नानात्व सिद्ध होता है। इस कारण ये तीनों हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं अर्थात् झूठे हेतु हैं। और विरुद्ध नामका वह झूठा हेतु है तो जो बात सिद्ध करना चाहें उससे उल्टी ही सिद्ध हो जाये उन्हीं हेतुवोंसे तो उन हेतुवोंका नाम है विरुद्ध हेत्वाभास। अनुमान प्रमाणका दार्शनिक शास्त्रमें बहुत बड़ा प्रकरण है और अजैन दर्शनमें जो केवल अनुमानप्रमाणपर बड़े-बड़े मोटे-मोटे ग्रन्थ बने हैं। जैनदर्शनने जितना प्रयोजनवान समझा उतना वर्णन विशद रूपमें किया है, ऐसा संक्षेपमें हेतुसाध्य प्रतिज्ञाके बारेमें विवरण करके स्पष्ट किया है। किसी भी बातको सिद्ध करनेके लिए हेतु बोला जाता है, वह हेतु यदि अन्वयव्यतिरेकी है तब तो साध्यकी सिद्धि करता है। यह ज्ञायक हेतु है, कारक हेतु नहीं, और यदि उनमें दोष है हेतुवोंमें तो वह साध्य सिद्ध नहीं कर सकता, ऐस दोषदूषित हेत्वाभास कहलाता है हेतु। असिद्ध विरुद्ध, अनैकांतिक अकिंचित्कर, ये सब झूठे हेतु कहलाते हैं। उनमेंसे ये विरुद्ध नामका दूषित हेतु है।

मति श्रुतमें अभेद सिद्ध करनेके लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत सहचर्य एकत्रावस्थान व अविशेषत्व हेतुओंकी असिद्धहेत्वाभासताका कथन अब आज यह बतला रहे हैं कि इन हेतुओंमें दूसरा दोष है असिद्ध नामका। जो हेतु दे रहे हो वह यहाँ घटित ही नहीं हो रहा। जैसे पहले हेतु दिया कि यह सहचर है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, यह बात सर्वथा सिद्ध नहीं। लब्धिकी अपेक्षा तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, पर उपयोगकी अपेक्षा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक साथ रहते ही नहीं। छद्मस्थ जीवोंके उपयोग युगपत् नहीं होता, क्रमशः होता है। जब मतिज्ञान उपयोग रूप है तब श्रुतज्ञान उपयोगरूप नहीं। तो साहचर्य तो न रहा। तो इसमें साहचर्य हेतु असिद्धहेत्वाभास है। पहले हेतुमें असिद्ध नामका हेत्वाभास दोष आता है। दूसरा हेतु कहा एकत्र अवस्थान। अरे एकत्र अवस्थान क्या है? वस्तुतः तो दोनोंमें सहज स्थिति है, स्वरूप है। स्वरूपके ये प्रकार हैं। और पर्यायदृष्टिसे ये भी एक साथ नहीं रह रहे याने उपयोग दृष्टिसे इनका एक जगह अवस्थान नहीं है। जब मतिज्ञानोपयोग है तब श्रुतज्ञानोपयोगका अवस्थान नहीं। जब श्रुतज्ञानोपयोग है तब मतिज्ञानोपयोगका स्थान नहीं। तीसरा हेतु दिया था कि इन दोनोंमें विशेषता नहीं। मति और श्रुतज्ञान दोनोंमें समानता है, लेकिन यह हेतु असिद्ध है। पर्यायदृष्टिसे समानता है ही नहीं। मति और श्रुतज्ञानको कैसे समान बोलते, इस विषयका अलगसे प्रकरण आयेगा, पर सामान्यतया यह समझ लो कि भले ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका निबन्ध असर्व पर्याय द्रव्योंमें है, लेकिन फिर भी इनमें कितने भेद हैं? श्रुतज्ञानका विषय तो उतना है जितना कि केवलज्ञानका विषय है। फर्क यह बताया है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता और स्पष्ट जानता, और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सबको जानता, जैसे कि अगर ऐसा श्रुतज्ञानसे जान लिया कि सब अनेकान्तात्मक है सत् होनेसे तो यह बतलाओ कि इसमें कौनसी चीज छूट गई? केवलज्ञानने भी सबको जाना और श्रुतज्ञानने इस रूपमें सबको जान लिया। अब भिन्न-भिन्न अलग-अलग व्यक्ति-व्यक्ति जाननेकी जरूरत ही नहीं है श्रुतज्ञान में। उसने तो एक सामान्य रूपसे सब कुछ जान लिया और इसीलिए आप्त मीमांसामें बताया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान इनमें साक्षात् और असाक्षात्कारका अन्तर है, पर सबको केवल जानता, सबको जानता है। श्रुतज्ञानने जान लिया किकाल अनादि अनन्त है, उसकी आदि ही नहीं, बोलो सारेकालको जान लिया कि नहीं? अब देखो उसका फर्क यह श्रुत है परोक्ष रूप में। और मतिज्ञानका कितना विषय है? जो सामने चीज हो, कुछ पर्यायरूप है वही शिष्य है। तो विशेषता है इन दोनों में। सर्वथा समानता नहीं कह सकते। और इसके अतिरिक्त अगर मति और श्रुतमें कथंचित् एकत्व कहें तब तो ठीक है, मगर सर्वथा कहें तो ठीक नहीं है। सामान्य विवक्षामें तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ये तीन हेतु सही बन जाते हैं। इनमें साहचर्य है। वे एकमें रहते हैं। इनमें समानता है, पर विशेष दृष्टिसे देखा जाये तो इनमें अन्तर आता है, वह पर्यायको देखता है। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें कथञ्चित् एकत्व है, कथंचित नानात्व है, सर्वथा एकत्व नहीं। इस तरह आत्मामें जो-जो कुछ बतावेंगे, सबमें कथञ्चित् एकत्व है। आत्माको छोड़कर अलग आत्माकी चीज कहाँ बसती है?पर जब भेद जानना है, विवरण समझना है तो वहाँ विशेष जानना ही होगा।

मतिश्रुतमें अभेद सिद्ध करनेके लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत कारण कार्यभावत्व हेतुके विरुद्ध हेत्वाभासता कथन अब यहाँ शंकाकार एक नई बात और रख रहा है। शंकाकार कहता है कि हम तो ऐसा समझते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कार्य कारण भाव है ना। मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञानकार्य है तब ही तो बताया गया मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। तो इससे सिद्ध हो गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अभेद है। कार्य कारण भाव होनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकता है, क्योंकि कार्य कारण कोई न्यारी जगह रहते हैं क्या? वह तो एक उपादानका उपादेय तत्त्व है। मगर उस उपादानको छोड़कर कारण कहीं रहता हो, कार्य कहीं रहता हो तो उनमें नानापन सिद्ध करें। जब इनमें उपादान उपादेय भाव है, कारण कार्य है, कारण कार्य भाव है तो इनमें एकता है। शंकाकारकी इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि तुम जो-जो हेतु देते हो उन्हें हेतुओंसे भेद भी सिद्ध हो जाता है। तुम ही खुद कह रहे हो कि मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञानकार्य है, लो भेद हो गया ना, क्योंकि कारण त्व धर्मविशिष्ट चीज और कार्यत्व धर्मविशिष्ट चीज। अगर ये दोनों एक हो जायें तो कारण कार्य कहनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही? तो कारण कार्य भेद बताकर भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकत्व सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि यह हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास है, नानापनको सिद्ध करने वाला है। देखो बात बराबर चल रही है हम आपकी। भीतर क्या होता है, किस तरहसे हमारा ज्ञानपरिणमन चलना है, चर्चा उसकी कर रहे। और अपनेपर ही बीती हुई बात समझमें न आये या समझना न चाहें तो यह बात एक व्यामोहकी है। भीतर दृष्टि दें तो सब समझमें आयेगा। इन्द्रिय और मनसे जो हमने जाना वह है मतिज्ञान। जानते हैं ना, ऐसा रोज जानते हैं और तरहका जानना है कहाँ अभी? ऐसा ही तो जाना करते हैं, और मतिज्ञानसे जाने हुए विषयमें कुछ और विशेष समझना, सो श्रुतज्ञान है। ये दोनों बातें हम आपके २४ घंटे चल रही हैं। उसीके सम्बंधमें यहाँ शंका समाधान चल रहा है दार्शनिक विधि से। यहाँ शंकाकार यह बात रख रहा कि मति-श्रुत एकदम लगातार होते हैं, उनमें कारण-कार्य भाव हैं, इसलिए दोनों एक हैं, कुछ अलग वस्तुकी चीज नहीं है। उत्तर दिया जा रहा है कि पर्यायदृष्टिसे ही तो कार्य कारण भाव देखा जाता है। तो पर्यायदृष्टिसे ही उसका उत्तर समझना चाहिए। जब कारण कार्य भाव देखा तो इसमें भी भेद सिद्ध हो जाता है। उपादान उपादेय भाव या कारण कार्य भाव बताना कथंचित भेदके बिना सम्भव नहीं है। यदि एक ही बात हो कि भेद नहीं है, भेद है तो उसमें कारण कार्य क्या कहेंगे? एकको तो देख लो, इससे आगे अधिकार नहीं है। जितना प्रतिपादन होगा, कारण कार्यभाव बताना आदि जो कुछ कहेंगे वह भेदके बिना नहीं कह सकते। इसलिए कारणकार्य भावका हेतु देकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी एकता सिद्ध करना यह विरुद्ध पड़ता है। यह हेतुविरुद्ध हेत्वाभास है। हां कथंचित एकता सिद्ध करेंगे तो इसमें तो हमें कोई अनिष्ट बात नहीं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक ही आत्माकी पर्याय है, पूर्वापर होती हैं, उपादान उपादेय हैं, कथंचित एक हैं मगर उपादान उपादेय भाव बताना, कारण कार्य भाव बताना यह सर्वथा एकमें सम्भव नहीं है। इसीमें भेद सिद्ध हो रहा।

विषयाभेद हेतु बताकर मति श्रुतमें सर्वथा अभेद सिद्ध करनेके प्रयासकी असफलता सामान्यतया मतिश्रुत ज्ञानके बारेमें एकत्वविषयक चर्चा समाधान सुनकर एक प्रकरण अब और लीजिए। शंकाकार कहता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय एक है। और जब विषय एक है तो उनमें भेद न होना चाहिए। एक ही मान लो। मोटे रूपसे तो यों समझो कि मतिज्ञानने जिस बातको जाना, श्रुतज्ञानने भी उसे जाना, पर विकार रूपमें यों समझ लो कि आगे सूत्र आयेगा “मतिश्रुतयोर्निबंधों द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।” मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय नियम कुछ पर्याययुक्त समस्त द्रव्य है। लो यह ही तो मतिज्ञानका विषय है और यह ही श्रुतज्ञानका विषय है। अब भेदकी क्या गुंजाइश रही? एक ही मान लो, और जब एक मान लोगे तो इसमें ५ बातें न कहनी चाहिएँ, एक ही कहना चाहिए, क्योंकि मति श्रुत तो एक हो गए, पुनरुक्त दोष आ जायेगा दो शब्द बोलने से। इस शंकाके समाधानमें सोचिये कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका सामान्यसे ऐसा विषय बताया है, इतनेपर भी इसके विषयमें कितने भेद हैं? श्रुतज्ञान तो केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वार्थोंको ग्रहण करने वाला है। फर्क है तो प्रत्यक्ष परोक्षका है, पर मतिज्ञानका ऐसा विषय तो नहीं। अगर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंको एक सा विषय मान लेंगे तो अर्थ यह हुआ कि मतिज्ञान भी केवलज्ञानवत् सबको जानने वाला हो गया। ऐसा तो नहीं है। उसकी तो सीमा बनी हुई है, और स्पष्ट कहा गया है “स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।” स्याद्वाद और केवलज्ञान सर्वतत्त्वोंका प्रकाशन करने वाला है। अच्छा अनादि अनन्त किसने समझाया और उसमें झूठ क्या? यह सब श्रुतज्ञानकी महिमा है। लोक और अलोकको किसने समझाया? अलोकाकाश अपरिमित है और जब श्रुतज्ञानसे उसका ध्यान बने तो अपने आप समझमें आ रहा है कि हां उसका कहीं अन्त नहीं हो सकता। अलोकाकाशका कहीं अन्त हो तो आयेगा अलोकाकाशके बात? कुछ तो बताना चाहिए। कोई ठोस चीज आयेगी क्या? अरे ठोस जहाँ है वहाँ भी आकाश है, और ठोस वहाँ है ही नहीं। अलोकाकाश है तो आप विकारसे ही समझ जावोगे कि वह अनन्त है। तो यह बात कहना कि इन दोनोंके विषयमें विभेद है, इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकता है, वह ठीक नहीं है। श्रुतज्ञानको बताया है कि वह सर्व व्यंजन पर्याय समाक्रान्त सर्वद्रव्यका ग्राही है, और यह भी कथन है कि वह केवलज्ञानकी तरह समस्त तत्त्वार्थोंका ग्रहण करने वाला है।

विशालसे विशाल मतिज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी विशालताका प्रतिपादन देखो मतिज्ञान चाहे कितना ही बड़ा हो, बड़े विशाल ज्ञान वाला मतिज्ञान है। जैसे तर्क, अनुमान प्रत्यभिज्ञान आदि ये भी तो मतिज्ञान ही हैं। ५ ज्ञानोंमें जो मतिज्ञान कहा है उसका ही अनर्थान्तर है मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि तो तर्कमें कितना विचार चलता है? देखो सामने किसी पर्वतमें धुवां देखा तो अनुमान बनाते हैं कि यहाँ अग्नि है धुवां होने से। अब देखो तर्क ज्ञान हुआ तब ही तो अनुमान हुआ और तर्कमें कितना जाना? जहाँ-जहाँ धुवां होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धुवां नहीं होता है। अब बोलो जहाँ-जहाँ और वहाँ-वहाँमें कितनी समझ डाल दिया?

क्या अपने घरका ही रसोईघर देखा? देखो तर्कका कितना विशाल ज्ञान हुआ, ऐसा तर्क आदि भी श्रुतज्ञानके बराबर नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतज्ञान तो अनन्त व्यंजन पर्यायोंसे समक्रान्त सर्वद्रव्योंको जानता है, क्योंकि सभी द्रव्योंसे अनन्त पर्यायें हैं। सभीमें प्रत्येकमें ऐसा बोध करते हुए सर्वद्रव्योंको श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे जाने तो यह इसका महान विषय हुआ ना? सर्व अनन्त व्यंजन पर्यायें, व्यंजन पर्यायमें सभी पर्याय ले लो। कोई व्यंजन पर्याय द्रव्य व्यञ्जन पर्याय सर्व आकार वाले, सर्व भावों वाले पर्यायोंसे समन्वित सारे द्रव्योंको श्रुतने जाना, ऐसा मति नहीं जानता। मतिज्ञान तो नियत विषयको जानता है। कभी थोड़ा अन्तर आयेगा तो जरासा, जैसे बाजारमें आ रहे और न बड़े, न छोटे नींबू आपको कहीं दिख गए तो उन्हें देखकर आपके गलेमें खटास उतर आयी। तो भाई चखा तो है नहीं और खट्टेका ज्ञान कैसे हो गया? तो आप जानते हैं इसे बोलते हैं अनुक्तज्ञान। जिस इन्द्रियका जो विषय नियत है उस इन्द्रियसे जानकर दूसरे इन्द्रियके विषयका बोध हो जाता है। यह क्वचित् होता है ऐसा, पर अपने नियतपनेको नहीं छोड़ सकते, और ऐसा हो तो उसमें कुछ विचार भी आपका ज्ञान संस्कार भी साथ है सो देखो ऐसे इसका बोध होता है। तो ग्रन्थोंमें लिखा है कि असर्व पर्याय द्रव्योंको मति श्रुत जानता तो इतने मात्रसे एक बात मत समझ लो। उनमें फर्क तो होता ही है भाई! घोड़ेकी भी पूंछ, गधेकी भी पूंछ, अब पूंछ-पूंछ होनेसे दोनों एक हो जायेंगे क्या? अनेक जगह आप देख लो। कई बात सामान्य रूपसे एकपनेके रूपसे बोला जाता है, पर क्या विशेष रूपसे भी उन्हें एक समझ लो? तो विषयके भेदसे भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अभेद सिद्ध होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकता सिद्ध नहीं हो सकती। एक विषय है, मगर वहाँ भी भेद पड़ा हुआ है, सर्वथा अभेद नहीं। एक ही कम्पनीमें मैनेजर भीकाम करता है और कोई एक मजदूर भीकाम करता है। कम्पनी एक है, विषय एक है, उसीकामको बढ़ाना है। तो सामान्यतया तो एक कह दिया जाता है, यह भी वहीकाम करता, यह भी वहीकाम करता, यों समानता तो हो गई, पर क्या एकता आ जायेगी? उनमें भेद है। तो सामान्य रूपसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञानका विषय एक बताकर भी सर्वथा एक नहीं। उनमें परस्पर बहुत भेद हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बराबर भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उमास्वामी महाराजने सूत्रमें जो ५ ज्ञानोंका निर्देश किया है वह बिल्कुल संगत है। चर्चा चल रही है इस बातकी कि इससे अधिक क्यों नहीं कहा, इससे कम क्यों नहीं कहा? ५ ही क्यों बताया? ज्यादा तो कुछ मिलेगा नहीं। कोई सा भी ज्ञान बताओ, ५में शामिल हो जायेंगे, और कम हो नहीं सकते, उसकी यह चर्चा चल रही है।

इन्द्रियातीन्द्रियनिमित्तत्वकी अविशेषता दिखाकर मति-श्रुतमें सर्वथा अभेद सिद्ध करनेका शंकाकारका विफल प्रयास अब शंकाकार कहता है कि चलो मति-श्रुतज्ञान साहचर्यसे एक नहीं बना। एकत्व अवस्था मेंसे एक नहीं बना, अविशेषसे एक नहीं बनता औरकार्य कारण भावसे एक नहीं बना और विषय एक है, इस तरह भी एक नहीं बना तो अब सुनो हमारा एक अन्तिम हेतु। ये दोनों इन्द्रिय और अनिन्द्रियके आधीन हैं। मतिज्ञान भी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञान भी।

तो जब उनका निमित्त रूप एक है इसलिए दोनों एक हो जायेंगे। इनको न्यारा-न्यारा मत कहो। शंकाकी बात तो स्पष्ट है ना। याने मतिज्ञान उत्पन्न होता है तो वह भी इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है। बताया ही है तदिन्द्रियातीन्द्रियनिमित्तं। और वह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और अतीन्द्रियके निमित्तसे होता है। संसारके सब जीवोंमें श्रुतज्ञान बताया ना, और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, एकेन्द्रिय इनके तो इन्द्रिय ही हैं, मन तो हैं और श्रुतज्ञान सबके कहा। देखो प्रसंगमें ध्यान देनेकी बात एक यह है कि प्रकरण चल रहा है सम्यक् श्रुतज्ञानका। यह श्रुतज्ञान मन वालेके होता और सामान्यतया श्रुतज्ञान सब छद्मस्थ संसारी जीवोंके होता, यह श्रुतज्ञान-श्रुतज्ञानमें ही फर्क है। सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान इन्द्रियसे नहीं होता। वह मनसे ही होता है। तो यहाँ प्रकरण चल रहा है सम्यग्ज्ञानका। याने जिन प्रमाण और नयोंसे तत्त्वार्थका अधिगम होता है उन प्रमाण और नयोंका विश्लेषण चल रहा है। तो इस प्रथम अध्यायमें जितनी प्रमाणकी बात कही जाये वह सब सच है। और जितने नयोंका निर्देश किया जाये वह सब सच है। सत्य उपाय द्वारा सत्यका ज्ञान कराया जा रहा है, क्योंकि संकल्प है ऐसा कि तत्त्वार्थका अधिगम प्रमाण और नयोंसे सही होता है उसी प्रमाणके विवरणमें यह सूत्र है, श्रुत प्रमाण है। तो यह श्रुतज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं रखता। मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। किन्तु श्रुतज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं रखता। वह मन विचारपूर्वक होता है, अतएव निमित्तकी एकता सिद्ध नहीं होती। और भी बात देखो, कोई अगर ऐसा कहे कि मतिज्ञानपूर्वक तो श्रुतज्ञान होता और मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे होता और मतिपूर्वक श्रुत होता तो इन्द्रिय निमित्त तो हो ही गया। हां-हां हो गया। मगर साक्षात् नहीं हुआ। साक्षात् तो इन्द्रिय तो इन्द्रिय अपेक्षा नहीं रख रहा। पहली परम्परासे अगर इन्द्रिय सापेक्ष कहो श्रुतज्ञानको तो इसमें कोई बाधा नहीं। तब देखो इन्द्रिय सापेक्ष भी कहा तो ये दो भेद तो डालने ही पड़ेंगे। मतिज्ञान तो साक्षात् इन्द्रियापेक्ष है और श्रुतज्ञान असाक्षात् इन्द्रियापेक्षी है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक कैसे कहा जा रहा?

ईहादिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अनिन्द्रियनिमित्तत्व बताकर भी मति-श्रुतमें अभेद सिद्ध करनेका दृष्टा शंकाकार जिज्ञासु पुरुष वह होता है कि जहाँ तक शंका हो, संदेह हो, दम हो, शक्ति हो, बराबर निपटारा करनेके लिए पूछता ही जाये। अब इस प्रसंगमें शंकाकार यह कहता है कि देखो मतिज्ञान ४ प्रकारका है (१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा। इनमेंसे अवग्रहकी बात तो छोड़ दो, मगर ईहा, अवाय, धारणा ये मनसे हुए और श्रुतज्ञान भी मनसे हुआ। यह विषय चल रहा है सम्यग्ज्ञानके प्रकरणका, यह बात ध्यानमें रखते हुए सब सुनना है। देखो इन चारका क्या मतलब? सबके हो रहा है यहकाम और खबर नहीं है कि हम क्या कर रहे? कुछ ऐसा ढंग बन रहा जैसे कि स्त्यानगृद्धि होती है। याने सोते हुएमें कहीं कोईकाम कर आवे और वहाँसे आकर फिर सो जाये, उस किए हुएकामका पता ही उसे न रहे तो यह स्त्यानगृद्धि है। हमारी एक ऐसी विद्यार्थी अवस्थाकी घटना है कि हमसे एक दिन सुबह छात्र लोग कहने लगे कि तुम रातको करीब १२-१ बजे मन्दिरके द्वारके किवाड़ क्यों खटखटा रहे थे? हमने कहा कि हम तो नहीं खटखटा रहे थे। तो

हो सकता है ऐसा कि हमारे छात्रावासके कमरेके पास ही तो मन्दिर था। हम रातको सोते हुएमें मन्दिरके द्वारपर पहुंच गए होंगे और किवाड़ खटखटाया होगा, बादमें जाकर फिर सो गए होंगे, उसका मुझे कुछ पता नहीं। तो कभी-कभी ऐसा हो जाता है। इसे कहते हैं स्त्यानगृद्धि। तो मानो जगतेमें भी ऐसे ही काम सारे कर रहे हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा करते रहते हैं, पर इनका पता नहीं है। कोई चीज देखकर प्रथम ही प्रथम जो आभास होता है वह अवग्रह है। अवग्रह इतना कमजोर ज्ञान है कि उसके बाद संशय भी सम्भव हो सकता है कि यह अमुक है कि अमुक। हालांकि संशय यहाँ नहीं है, मगर अवग्रहके बाद ऐसा कुछ समझने वाला ज्ञान होता है कि जिसमें यह समझ आती कि यह होना चाहिए। यह ही है। देखो ईहामें भी खोटा नहीं जाना। जो है उसे ही जाना। गलत नहीं जाना और अवायमें निश्चयसे जाना। और ईहामें संशय नहीं है, मगर उसके जाननेकी शैली इस प्रकार है कि यह होना चाहिए। दूसरी बात चित्तमें नहीं है। मगर इसके बाद जब अवधारण होता है कि यह है, यह अवाय हो गया। और जब धारणा हो गई तो धारणा बन गई। बोलो होता है कि नहीं ऐसा? तो उनमेंसे ईहा ज्ञान विचारपूर्वक होता है। तो ईहामें और श्रुताज्ञानमें तो अन्तर न रहा। शंकाकार कह रहा कि अवग्रह करे तो बोल दो, इन्द्रियसे भी होता, मनसे भी। ईहामें तो विचार चल रहा है। उसमें और श्रुतज्ञानमें अभेद है इसलिए एकत्व है। समाधान यह है कि इस रीतिसे भी उनमें एकता नहीं है, क्योंकि ईहाकी अपेक्षा श्रुतज्ञान बहुज्ञानी है और इस विषयको आगे स्पष्ट करेंगे। समाधानमें सामान्यतया यह समझ लें कि ईहा तो एक विषयमें नियत विषयको ही ज्ञानमें ले रहा है और श्रुतज्ञानका विषय तो अनियत है। उसकी बराबरी ईहाज्ञान करेगा क्या? जैसे कह देते ना? कहाँ राम भगवान और कहाँ साधारण आदमी? तो कहाँ तो श्रुतज्ञान महा विषय वाला और कहाँ ईहा जैसी छोटी चीज? इस कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें एकत्व सिद्ध नहीं कर सकते। तो उमास्वामीने जो ५ ज्ञान बताया है वह बिल्कुल ठीक है और बहुत ही संगत है।

श्रवणनिमित्तकत्व हेतु देकर शंकाकार द्वारा मति-श्रुतमें अभेद सिद्ध करनेका विफल प्रयास “मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्।” इस सूत्रके प्रसंगमें शंकाकारकोशिश कर रहा है कि इतना बड़ा सूत्र न बनाना चाहिए, उसमेंसे मति, श्रुत इन दो मेंसे एक कोई हटा लेना चाहिए। कारण यह है कि मति और श्रुत एक ही चीज हैं, अभेद हैं। इस शंकाके प्रसंगमें जो-जो हेतु आये थे उनका निराकरण किया। अब एक हेतु और दिया जा रहा है। शंकाकार कहता है कि मति और श्रुतज्ञान तो एक ही चीज है, कारण कि मतिज्ञान भी श्रवणसे निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञानसे भी श्रवणके निमित्त होता है अर्थात् कर्णेन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान भी बनता है और श्रुतमें तो नाम ही धरा है। उनका श्रवण तो श्रुतपद बताता ही है। तो इस तरह श्रवणनिमित्तक होनेसे इन दोनोंमें एकता है। देखो शंकाकार ऐसा हेतु दे रहा है कि जिन हेतुओंसे कुछ-कुछ ठीक जंचने लगे कि बात तो सही है एक ही बात है। यह शंकाकारका अन्तिम प्रयास है। सोचिये समाधान यह है कि श्रुतज्ञान साक्षात् कर्णेन्द्रिय निमित्तक नहीं है, किन्तु श्रुतज्ञान एक तो मनोविचारपूर्वक चलता है। यह श्रुतज्ञान

सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें है और सम्यग्ज्ञान कभी असंज्ञी जीवके नहीं होता। उस श्रुतकी यह बात चल रही है। और रहा सामान्य श्रुत तो उसका प्रसंग नहीं है। जिसको प्रमाण माना जा रहा है उस श्रुतज्ञानके बारेमें यह शंका है कि मति और श्रुत है एक श्रवणनिमित्तक होनेसे मगर उत्तर यह सोचा जा रहा है कि तुम्हारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात् हेतु ही सिद्ध नहीं है। श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक नहीं होता, क्योंकि वह अनिन्द्रियवान है और अदृष्ट अर्थको जानता है और सजातीय विजातीय नाना अर्थोंको जानता है। इस श्रुतज्ञानको श्रवणनिमित्तक कैसे कहते? उसका स्वभाव तो विलक्षण है।

श्रुतज्ञानको श्रवणनिमित्तकत्व माननेमें अन्य इन्द्रियज मतिपूर्वक श्रुतमें या अनिन्द्रियज श्रुतमें श्रुतज्ञानकी असिद्धिका प्रसंग अब दूसरी बात सोचो, यदि ऐसी ही हठकी जाये कि चूंकि सुनकर ही तो अवधारण होता है, इस कारण से श्रुतज्ञान कर्णेन्द्रिय निमित्तक है। ऐसा कहने वाले यह बतलायें, जो यह कहा जा रहा है कि सुनकरके ज्ञान दिया गया है श्रुतज्ञान में, इसलिए श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक है, श्रवण मायने सुनना। तो वे यह बतलायें कि सुननेके बाद जो श्रुतज्ञान बनता है तो उस शब्दका ही निर्णयरूप श्रुत बनता है या शब्दके वाच्यभूत अर्थके निर्णयरूप श्रुत बनता है। ध्यानसे सुननेकी बात है, कठिन नहीं है। सुनकरके निश्चय होता है श्रुतज्ञानमें ऐसा कहने वाले यह बतलायें कि सुनकरके किसका निश्चय होता है? जो शब्द बोला उस शब्दका निश्चय होता है या उस शब्दका वाच्यभूत जो अर्थ है उसका निश्चय होता है। अगर कहो कि सुनकरके शब्दका निश्चय होता है तो यह बात तो मतिज्ञानमें ही हो जाती है, और कहो कि सुनकरके अर्थका निश्चय होता है तो अब वह श्रवणनिमित्तक नहीं रहा। श्रवणनिमित्तक तो रहा मतिज्ञान और मतिज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान। कैसे श्रवणनिमित्तक कहकर मति और श्रुतमें अभेद सिद्ध नहीं होगा। दूसरी बात थोड़ी देरको कुछ समय मान लो सुनकर जाने सो श्रुतज्ञान, तो इसके मायने यह हुआ कि जो इन्द्रियसे बने और मनसे बने। तो वह श्रुतज्ञान न रहा क्या? केवल सुननेकी बातसे ही तो श्रुतज्ञान नहीं होता, स्पर्शनके बाद भी होता, इसके बाद भी होता। अंधेरेमें जब कुछ दिखता नहीं है और टटोल रहे हैं और कोई चीजकोमल-कोमलसी हाथमें आ गई तो निर्णय करते हैं कि यह तो मखमल है। अब स्पर्शनसे तोकोमल स्पर्श जाना, मगर उसके बाद यह मखमल है, यह अमुक चीज है, ऐसा जाना जाता है ना। देखो कड़ी-कड़ी लगी यह तो हो गया मतिज्ञान। जान लिया यह घड़ी है, यह श्रुतज्ञान हो गया। तो कर्णेन्द्रियके बाद ही हो यह तो नियम न रहा, स्पर्शनके बाद भी हो गया, रसनाके बाद भी हो गया। अंधेरेमें आम चूस रहे और बतलाया, यह तो और आमोंसे अधिक रसीला है, यह तो बहुत बड़ा आम है, यह तो अमुक जातिका है। श्रुतज्ञान हो गया। तो रसनाइन्द्रियके प्रयोगके बाद भी तो श्रुतज्ञान होता है। सभी इन्द्रियोंके बाद श्रुतज्ञान हो सकता। अगर श्रवणनिमित्तक श्रुतज्ञान है, ऐसा कहेंगे तो बाकी मतिज्ञानपूर्वक भी होता है और श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक भी होता है, उसका निमित्त इतनी दूर पड़ जाता है कि कितने ही श्रुतोंके बाद श्रुत हो रहा। जैसे आँखोंसे देखा, यह तो मतिज्ञान है और यह घड़ी है यह है श्रुतज्ञान और उसकी बनायी है, वहाँ मिलती है, ऐसे बनायी जाती है, हर जगह

अलग-अलग एक-एक पुर्जे केकारखाने हैं, उन सबको जोड़ा जाता है, उनका उससे निर्माण होता है। अब देखो जितने श्रुत होते जा रहे हैं, वे सब श्रुतपूर्वक होते जा रहे, इन्द्रियकाकाम नहीं। तो ऐसे ही जो श्रुत ही रहे वे कुछ न रहेंगे, इसलिए श्रवण निमित्तक हेतु बताकर मति और श्रुतज्ञानको एक कर देना और सूत्रको गलत बता देना यह संगत नहीं है।

श्रुत शब्दकी उपलक्षणार्थकतामें संगति यदि ऐसा कही कि वह तो एक उपलक्षणकी चीज है। सुन करके जाने सो श्रुत, इसे उपलक्षण कहा तो ठीक है। उपलक्षण उसे कहते कि कहे तो एक बात एक समझ लें कई बात। जैसे कोई दही मथ रहा था और कोईकाम ऐसा पड़ा कि मटकिया छोड़कर दूर जाना पड़ा। तो बच्चेसे कहता देखो दही देख लेना,कौवा न खा जाये। अब वह बच्चा देख रहा किकौवा न खा जाये और अगर बिल्ली, कुत्ता वगैरह खा जायें तो क्या उन्हें वह बच्चा न भगायेगा? अवश्य भगायेगा। तो देखो कहा तो थोड़ा गया, मगर समझना चाहिए समग्र। इसीको कहते हैं उपलक्षण। तो अगर उपलक्षणसे यह अर्थ बना दें जो सुनता हो, जो जाने सो श्रुत, मायने सुनकर, देखकर, सूँघकर, विचार कर जो विशेष परिचय बनाया सो श्रुतज्ञान। तो कोई आपत्ति नहीं, फिर तो रास्तेपर आ गए। हां उपलक्षण किसलिए किया जाता कि प्रतिप्रतिका गौरव न होनेके लिए भारी शब्द न बोलना पड़े। अब जैसे अंग्रेजी शब्दोंकी हिन्दी बनायी जाती है तो कई तो बहुत अच्छे बन जाते हैं। जैसे इंजीनियर, उसका शब्द है अभियंता, एक्यूकिटिव याने अधिशासी। अब ऐसा चलते-चलते ऐसी बात पायी कि चाय, इसकी भी जरा हिन्दी बना दो। कितनी जल्दी बोलते चाय। अब हिन्दी बनाने बैठे दुग्धशर्करामिश्रितसंतप्त विशिष्टपत्रतोयं मायने चाय। अब भला बताओ कोई गाड़ी से उतरकर चाय लेने जाय और वह उतना बड़ा शब्द बोले, फिर चार ले ले इतनी देर में तो गाड़ी छूट जाये। तो शब्द होता है किसलिए कि जानकारी हो जाये। शब्दोंकी पूछा-पाछी नहींकी जाती अधिक। शब्दोंसे अर्थके आशयका बोध होता है। शब्द पार न करेंगे। पार तो ज्ञान करेगा और उस ज्ञानको समझनेके लिए शब्द माध्यम है। तो इसी कारण यह उपलक्षणकी बात चला करती है। यदि उपलक्षणसे श्रुतको ऐसा बोल दे तो संगत बैठ जायेगा, मगर हठ बनाकर कि नहीं, श्रुतमें तो जब श्रुत धातुका शब्द दिया है तो हम उस श्रुतका ही अर्थ लगायेंगे-सुनना। श्रुत्वावधारण सो ही श्रुत। ऐसी बात नहीं बनती। तो एक तरह श्रुतज्ञानमें व मतिज्ञानमें अभेदसिद्ध नहीं है। सामान्यतया अभेद है और विशेषदृष्टिसे भेद है। तब यह निर्णय रखें कि जैसे श्रुतज्ञानसे अवधि, मनःपर्याय केवल भिन्न पर्याय है इसी प्रकार मतिज्ञान भी श्रुतज्ञानसे भिन्न पर्याय है। इसी प्रकार मतिज्ञान भी श्रुतज्ञानसे भिन्न पर्याय है। भेद जाना जाता है स्वलक्षण से।

मूलमें द्रव्यदृष्टि वह पर्यायदृष्टि द्वारा अखंड स्वभाव व अखंड पर्यायकी सूचना देखिये यह तो आचार्यसंतोंकी करुणा है और मूलमें देखो तो वस्तुमें एक तो है स्वभाव और दूसरी बात है पर्याय। स्वभाव भी अभेद है और पर्याय भी। जिस क्षण पदार्थ जो पर्याय है उस समय पर्याय अखण्ड है। उनमें भेद डालना केवल समझानेके लिए है कि यह ज्ञान गुणकी पर्याय, यह दर्शन गुणकी पर्याय,

यह अमुक गुणकी पर्याय। जैसा स्वभाव है वैसी ही पर्याय है। जैसे स्वभावको मना नहीं किया जा सकता जैसे ही पर्यायको मना नहीं किया जा सकता। ये वस्तुकी दो बातें अकाट्य हैं। इतना तो हम सोच सकते हैं कि स्वभावमें भेददृष्टि करके गुणकी सिद्धि की। पर अखंड पर्याय माननेमें हम ऐसी कोई भेददृष्टिकी बात नहीं सोच सकते जिससे कि गुणकी तरह नानापन बन सके। हां, एक अखण्ड पर्याय में, अनेक पर्याय माननेमें वहाँ गुणकी तरह भेददृष्टि जगती है। जैसे स्वभावको खण्डित करके गुणके रूपमें पेश किया जाता है इसी तरह प्रति समयकी अखण्ड पर्यायका खण्डन करके यह अमुक गुणकी पर्याय अमुक गुणकी पर्याय यों खण्ड हो जाते हैं। वस्तुके दो अंश हैं (१) स्वभाव और (२) पर्याय। अब इनमें जो स्वभावका एकांत करते हैं और पर्यायको असत्य कहते हैं उनका नाम नित्यत्वैकांतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी आदि। और जो पर्यायका एकांत करते हैं वे हैं क्षणिकवादी बौद्ध। अब कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जब दार्शनिक क्षेत्रका परिचय नहीं होता तो बात बोलते जाते और खुश होते जाते और यह पता नहीं पड़ता कि इसमें कौन-सा मत आ गया, कौन-सा दर्शन है? तो स्याद्वाद सबकी गुथी सुलझाता है। अब यह बात तो प्रयोजनकी है कि हम पर्यायकी दृष्टि न रखें। जो क्षणिक है, मिट जाता है। उसकी ही हम दृष्टि रखें, लक्ष्य रखें। उससे चिपटे रहें तो हमारा सुधार न होगा। हमको गैल मिलेगी, सुधार होगा, मग्नता होगी तो स्वभाव दृष्टि करनेसे होगी। तब पर्यायदृष्टि हमें अप्रयोजनवान् हुई और द्रव्यदृष्टि प्रयोजनवान् हुई। और देखो जितना कथन है आगममें वह इन दो नयोंके आधारपर है और इन दोका पर्यायान्तर है अभेद और भेद। कभी दो बात कही जायें तो उनकी आधारभूत दृष्टि ये दो जरूर लगानी हैं। द्रव्यदृष्टिसे यह है और पर्यायदृष्टिसे यह है। अब जैसे क्षणिकवादी कहते हैं कि क्षण-क्षणमें नया-नया जीव होता है, उसके पहले जीवसे कुछ मतलब नहीं। सत्ता तो उसकी भिन्न है। अच्छा और यह ही बात जैन शासन भी कहता है कि प्रति समयकी अवस्थाके भेदसे वे सब भिन्न-भिन्न हैं। मगर यह द्रव्यदृष्टि आशयमें साथ लगी है, पर्याय दृष्टिसे तो ऐसा है, पर द्रव्यदृष्टिसे अन्वित है, संतानरूप है। तो जब जिस दृष्टिका प्रयोजन हो उस दृष्टिसे बात करें, मगर उसके प्रतिपक्ष जो दृष्टि है उसको असत्य कहकर आगे न बढ़ो, वह है मगर हम बात इसकी कर रहे हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके एकत्व व नानात्वका उपसंहारात्मक कथन अब बतलाओ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक हैं कि भिन्न-भिन्न? जिस दृष्टिसे लाभ मिले उसे मुख्य करो अन्यको गौण कर दो। तो एक दृष्टिसे तो यह जंचता है कि वह ऐसा एक है कि मति, श्रुत ही क्या? मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये सब एक हैं और इससे गहरे चलें तो हमें ज्ञान भी नहीं दिखता। ज्ञान गुण है आत्माका। ज्ञान गुण देखा तो यह भेद मान लिया, दर्शन भी गुण हैं, और भी गुण हैं। उनमेंसे एक ज्ञान भी गुण है। अच्छा और गहरे चलें तो हमें चेतन भी नहीं विकल्प आता कि यह चेतन है। तो क्या आता? आनन्द भोग रहे। कौन-सा आनन्द? सहज, अलौकिक विलक्षण। वह प्रतिभास बिना होता नहीं ऐसा प्रतिभास रूप पर्याय चलता है। देखो जिसको जो मीठी चीज लगती हो, चाहे

रसगुल्ला रख लो सांसारिक सुखके दृष्टान्त में, उसे आप खा रहे हों तो जब तक आप गप्प-सप्प करेंगे तब तक उसका पूरा आनन्द आप नहीं पा सकते। इसमें इतना खोवा है, इतना मैदा है, इतना घी पड़ा है, इतनी शक्कर पड़ी है इस प्रकारकी चर्चा ही यदि आप करते रहे तो उसके खानेमें आपको उत्कृष्ट स्वाद न आयेगा। और अन्य विकल्प न कर आँखें मीचकर दाँतोंसे चबाकर यों ही गुटकते जायें, उसका रस चूसते जायें तो वहाँ आपको उस रसगुल्लेका आनन्द मिलेगा। तो जब संसार सुखमें वह चर्चा आपके आनन्दको न्यून कर देती है तब धर्म चर्चा भी सहज आनन्दको न्यून कर देती। स्वभावदृष्टि करो, अन्य दृष्टि करके उसकी कुछ भी चर्चा मत करो, मनमें मत गुनगुनाओ कि मैं चित्स्वरूप हूँ, ज्ञानस्वभावरूप हूँ। यदि इतनी भी बात रही तो आत्माका सहज आनन्द नहीं लूट सकते। भोजन बनाया जाता है खानेके लिए और भोजन बनाकर फिर खाये नहीं तो उसे क्या बोलते? अविवेकी। तो धर्मचर्चाकी जाती है निर्विकल्प होनेके लिए। तो चर्चाओंका भोजन तो तैयार कर लिया और निर्विकल्पताके प्रयोगमें आना नहीं चाहते, यानि उसका लक्ष्य नहीं बनाते कि मेरेको ऐसा होना है। अगर ऐसा लक्ष्य हो कि मेरेको तो ऐसा होना है, तो वह पहली बातोंकी बेपरवाही कर जायेगा। मेरा कुछ नहीं है, द्रव्य गुण पर्यायदृष्टिमें नहीं। एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी ही उसको धुन बन जाती है। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अभेद है सामान्यदृष्टि से, अभेददृष्टि से। और भेद है पर्यायदृष्टि से, विशेषदृष्टि से। जैसे श्रुतज्ञानसे अवधिज्ञान भिन्न है ना? भाई कैसे भिन्न बताया? साधन भिन्न हैं, उसके लक्षण जुदे हैं, उसके प्रदेश जुदे हैं तो ऐसे ही तो श्रुतज्ञानका, मतिज्ञानका साधन जुदा है, स्वरूप जुदा है। उसे कहाँ एक अवस्था कहेंगे? तो जो सूत्र बताया गया कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं सो ठीक हैं, ये ५ पर्यायें हैं।

ज्ञानविशेषोंकी संख्याका परिमित अवधारण देखो अनेक दार्शनिकोंने और-और तरहसे प्रमाणके नाम पेश किए हैं, मगर उनमें कई ज्ञान तो छूट जाते हैं। और कई ज्ञान पुनरुक्त हो जाते हैं। यह चर्चा आगेके सूत्रमें करेंगे। विषय एक लम्बा है कि कैसे अन्य दार्शनिक प्रमाण मानते हैं और वह संख्या कैसे अटपटी बन जाती है? यहाँ ५ प्रमाण, ५ ज्ञान कहा, तो बिल्कुल संगत है। हम आप लोगोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है। और जो विशेष क्षयोपशम वाले हैं और विशुद्धि पाये हुए हैं उनके अवधिज्ञान होता है, और जो ऋद्धिधारी मुनिश्वर हैं उनके होता है मनःपर्ययज्ञान। मनःपर्ययज्ञानका साधन दूसरा है, लक्षण दूसरा है, पद्धति दूसरी है। और केवलज्ञान यह तो एक विलक्षण ही है। निरपेक्षज्ञान, जहाँ केवलज्ञान है वहाँ फिर किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं लब्धि या आगे पीछे। जो केवली है सो प्रभु है। केवलज्ञानके बाद फिर दूसरा ज्ञान नहीं होता, वही चलता रहता है। इस तरह इस सूत्रमें यहाँ तक इन ५ पदोंकी सार्थकता बतायी। अब इसके बाद इस सूत्रमें केवल दो विचारणीय प्रश्न रह गए। एक प्रस्ताव तो ऐसा कि जैसे कोई दार्शनिक कहते हैं कि जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थ जानते हैं तो पदार्थ तो साफ ज्ञानमें आता है, स्पष्ट है, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जानते वह ज्ञान परोक्ष है तो किसीको बोध नहीं होता। एक शंका यह आ रही। दूसरी शंका यह

आयेगी कि अरे कहाँ लगे फिर रहे? ज्ञान तो अचेतन है, प्रकृतिका धर्म है तो इन शंकाओंका वर्णन व निवारण अब आगे आयेगा।

करणभूत ज्ञानके अप्रत्यक्षत्वका मीमांसकों द्वारा प्रस्ताव “मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं” इस सूत्रमें ज्ञानसामान्यका संकेत है और ज्ञान विशेषणके नाम हैं। ये पाँचों ही ज्ञान हैं ज्ञान किसे कहते हैं? जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान, ऐसे ही ज्ञानके स्वरूपके सम्बंधमें अब यहाँ कुछ चर्चायें आ रही हैं। यह आत्मा जानता है, ज्ञानके ही द्वारा जानता है, पदार्थको जानता है और जानना होता है। इसमें आत्मा कर्ता हुआ, ज्ञानके द्वारा यह करण हुआ, पदार्थको यह कर्म हुआ और जानता है यह क्रिया हुई। इन चारोंके प्रकरणमें यहाँ मीमांसक सिद्धान्तानुयायी यह बात रख रहे हैं कि देखो जिस पदार्थको जाना वह पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो गया, स्पष्ट हो गया, खूब समझमें आ गया, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह ज्ञान परोक्ष ही रहता है। जाननेमें पदार्थ आया, पर जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह ज्ञान जाननेमें नहीं आता। जैसे बहुत-सी बातें मिलती हैं। जैसे लोग दिन भरकाम करते हैं, सूर्यको जो एक बार भी नहीं देखते, तो भले ही एक बार भी सूर्यको दिन भर नहीं देखते, फिर भी वे सब पदार्थोंको देख रहे हैं। यों जिसके द्वारा प्रकाशित हुआ पदार्थ उसे तो वे नहीं देख रहे और प्रकाशित पदार्थोंको देख रहे। तो इसी तरह जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं वह ज्ञान तो रहता है। परोक्ष और जो पदार्थ जान लिया गया वह हो जाता है प्रत्यक्ष। इस तरह करण ज्ञान परोक्ष ही होता है, ऐसा मीमांसकका सिद्धान्त है।

मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानके अप्रत्यक्षत्वके प्रस्तावका स्पष्टीकरण उक्त चर्चाके सम्बंधमें यह जानना कि यहाँ दो प्रकारके मीमांसक होते हैं भट्ट और प्रभाकर। भट्ट तो मानते हैं कि आत्मा प्रत्यक्ष होता है और पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, पर ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता और न फलज्ञान प्रत्यक्ष होता है, किन्तु प्रभाकर मानते हैं, कि फलज्ञान प्रत्यक्ष होता और पदार्थ प्रत्यक्ष होता। आत्मा और ज्ञान ये प्रत्यक्षमें नहीं आते। देखो, मीमांसकोंमें बाहरी बातें तो सब एक हैं क्रिया, आचरण एकसमान हैं और सिद्धान्तोंमें ऐसा भेद है। तो यहाँ मीमांसकोंने क्या बात रखी कि ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जान जाते हैं। तो पदार्थ तो हमें साफ नजर आता है, पर ज्ञान नजर नहीं आता, ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, ज्ञान परोक्ष रहता है। ज्ञानका जानना नहीं हुआ करता। पर ज्ञानके द्वारा पदार्थका जानना हुआ करता है। देखो यह बात ज्ञानके ज्ञानत्वके खिलाफ कही जा रही है, और प्रायः बहुत-से लोग सोच रहे होंगे कि बेचारा ठीक तो कह रहा, जब आँखें खोलते हैं तो पदार्थ एकदम दिख जाते और ज्ञान की कौन खबर रखता है?

ज्ञानकी अप्रत्यक्षता माननेपर ज्ञेय पदार्थके भी अप्रत्यक्षत्वके नियमका प्रसंग अब यहाँ यथार्थता क्या है, सो समझिये सीधा उत्तर यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ जाना, यदि उस ज्ञानका ज्ञान नहीं है तो फिर पदार्थ भी ज्ञान नहीं हो सकता। भले ही कोई इस ओर उपयोग न दे और सीधा मान ले कि प्रत्यक्षपना होता है पदार्थका। ज्ञानका प्रत्यक्षपना नहीं होता। जैन सिद्धान्तमें जो

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान कहे हैं सो पदार्थ जो जाननेके लिए परोक्ष हैं, मगर खुदके लिए प्रत्यक्ष है। और यहाँ यह बात कह रहे हैं कि मीमांसक कि पदार्थके जाननेकी जहाँ तक बात है वहाँ तक तो प्रत्यक्ष है और जहाँ खुद ज्ञानको जाननेकी बात है, वहाँ परोक्ष है। बात क्या चल रही है कि जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं यह घड़ी है तो घड़ी है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान होता, इसे बोलते हैं एकदेशविशद। और जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह ज्ञान हमारे अपने आपमें तो स्पष्ट है ज्ञानके द्वारा जाना। किन्तु मीमांसकका यहाँ यह कथन है कि ज्ञान तो स्पष्ट नहीं होता, किन्तु पदार्थ स्पष्ट हो जाता है ऐसा कहने वाले मीमांसक स्वयं अपने आप अपने पैरपर कुल्हाड़ी मारने जैसी बात कर रहे हैं, सो कैसा? पहली बात तो यह है कि इसके लिए अनुमान या युक्ति क्या देना? सभी लोग जानते हैं अपने-अपने आत्मामें कि मेरेमें ज्ञान है। यह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता। इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थ जाने जाते हैं, ज्ञान तो खुदको जान लेता है। जैसे किसी कमरे में कोई आदमी खड़ा है और उस कमरेमें खिड़कियाँ हैं तो बाहरकी चीजोंके जाननेके लिए खिड़कियोंका सहारा लेना होगा पर खुदको जाननेके लिए क्या खिड़कियोंकी जरूरत है? और खुदको तो स्वयं जान ही रहा है, यदि बाहरकी चीजें जाने तो खिड़कियों द्वारा जाने। इसी तरह बाहरी पदार्थोंको जाने तो यहाँ इन्द्रिय और मन व इन्द्रियके निमित्तसे जाने, पर खुदको जाननेके लिए इन्द्रिय मनकी खिड़कियोंकी जरूरत नहीं होती। चाहे मतिज्ञान हो, चाहे श्रुतज्ञान हो। ये परोक्ष कहलाते हैं। इस कारण कि ये उत्पत्तिमें पराधीन हैं याने इन्द्रिय और अनिन्द्रियका निमित्त पाकर होते हैं इसलिए परोक्ष हैं और इसी कारण पदार्थका स्पष्ट बोध भी नहीं होता, पर ज्ञान खुदको जाने इसके लिए परोक्षता नहीं है। यह स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा है, और ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। तो जैसे हम अपने बारेमें परख लेते हैं कि मैंने और ज्ञान द्वारा जाना ये दोनों प्रत्यक्ष हैं याने सबको स्वसंवेद्य है, प्रत्यक्ष आँखोंसे देखनेका नाम नहीं, किन्तु समझमें आया स्पष्ट उसका नाम है प्रत्यक्ष। प्रत्येक आत्मा जानता मैं मैं, मैं आया, मैं हूँ, इसको मैंने किया। तो उस मैंका अनुभव किसी न किसी तरह सबको हो रहा। चाहे अन्य रूपमें अनुभव करे, चाहे अहं रूपसे अनुभव करे।

ज्ञानकी अवेद्यता होनेपर सुख-दुःख आदिके अनुभवकी अशक्यता अहंका अनुभव यदि नहीं है तो दुःख भी नहीं हो सकता। अहंका अनुभव नहीं है तो न सुख हो सकता और न आनन्द ही हो सकता। दुःख, सुख, आनन्द इनमें अन्तर है। दुःख तो कहलाता है वह जो इन्द्रियको सुहावना न लगे, ख मायने इन्द्रिय, दु मायने असुहावना। जैसे दर्जन मायने छोटे जन, मायने असुहावने जन। ऐसे ही दुःख मायने जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे। और जो इन्द्रियको सुहावना लगे वह है सुख और आनन्द जहाँ आकुलता नहीं है उसे कहते हैं आनन्द। आनन्द है आनन्द गुणकी स्वभाव पर्याय और दुःख सुख हैं। आनन्द गुणकी विभाव पर्याय। दुःखमें भी आकुलता, सुखमें भी आकुलता और दुःखकी अपेक्षा सुखमें इतनी विकट आकुलता रहती है कि उस आकुलतापूर्वक सुख भोगने वाले लोग लोगोंकी निगाहमें पागल और बेवकूफ नजर आने लगते हैं, इतनी आकुलता रहती है और ऐसी

आकुलतासे सुख भोगते हैं तो कोई आनन्द पाये तो अहंके अनुभव बिन नहीं पा सकता, कोई दुःख पाये तो अहंके अनुभव बिना नहीं पा सकता और सुख पाये तो वह भी अहंका अनुभव पाये तो अहंके अनुभव बिना नहीं पा सकता। जो अहंका अनुभव अहंमें अहंके स्वरूपरूप कर रहा है उसे तो आनन्द मिलता है और जो अहंका अनुभव पर्यायमें कर रहा है उसे दुःख-सुख मिलता है। तो अहंका ज्ञान सबको है। तो खुदके लिए तो सबने समझ लिया कि मैं आत्मा प्रत्यक्ष हूं और मेरेमें जो ज्ञान होता है जिसके द्वारा जानता हूं वह भी प्रत्यक्ष है। ज्ञान और आत्मा जुदा तो नहीं हैं, किन्तु एक ही पदार्थमें कर्ता कारण का भेद किया गया है और जैसे हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष है तो अनुमानसे हम जानते हैं कि सबके लिए सबका ज्ञान उनका प्रत्यक्ष हो रहा है। जैसे कोई चीज मीठी लगती है ना, तो दूसरेके बारेमें भी ख्याल आता है कि यह ऐसे ही मीठी लगती होगी। कभी कोई त्यागी भोजन करता हो और वह भूल जाये कि यह चीज इसके साथ न खाना चाहिए, इसके साथ खाना चाहिए तो श्रावक झट बता देते कि महाराज इसको इसको साथ मिलाकर खाओ। उनके चित्तमें ऐसा पड़ा हुआ है कि इसके खानेसे हमें मीठा लगता है ना, तो इन्हें भी मीठा लगेगा। तो सभी बातोंका जैसे अपने आपमें स्पष्ट है ज्ञान तो समझें कि दूसरेमें दूसरे ज्ञान दूसरेके लिए स्पष्ट रहा करता है।

ज्ञानकी अनिवारित स्वसंवेद्यता तथा सम्यक्त्व होनेपर ज्ञान मात्रमें अहं प्रत्ययका अनुभव जब अहंकार छा जाता है तब इस जीवको ऐसा लगता है कि जानदार तो बस हम ही हैं, समझदार तो बस हम ही हैं और सत्ता वाले तो हम ही हैं, बाकीमें जान नहीं, ये सब होंगे ऐसे ही अटूट-सटूट मानो सबके दो आँखें हैं सारी दुनिया में, जिनमें डेढ़ आँखें तो हमारे पास हैं बाकी बची आधी आँख सारी दुनियाके पास है, इस प्रकारका अहंकार करते हैं। अहंकारीकी मुद्रा ही ऐसी है। इसी प्रकार जब अहंकार छाया रहता है तो वहाँ प्रभुताके दर्शन नहीं होते। जो विशेष हैं वे तो बालकोंकी तरह सरल होते हैं। बालकोंमें घमंड कम पाया जाता। बालकोंमें सरलता पायी जाती है। उनको क्रोध क्षणिक रहता है, उनमें मायाचार नहीं रहता। कुछ लोभकी भी कमी रहती। कोई चीज पासमें हुई झट किसीको दे दिया। देखिये यह कोई खास बात नहीं कह रहे, एक अंदाजा कह रहे। कहीं ऐसा नहीं है कि बालक तो मंद कषाय वाले हों और जवान तेज कषाय वाले। पर एक प्रवृत्तिके रूपसे उदाहरण दे रहे। देख लो बालक लोग आपसमें खेलते रहते हैं उनमें परस्परमें मेल है। क्या आप बता सकते हैं कि उनका खेल बन्द कब होता? अरे उनका खेल तभी बन्द होगा जब कि उनमें लड़ाई हो जाये। पर वह लड़ाई भी कैसी कि घर तक गये, कुछ पानी पीकर आये कि फिर एकमेक होकर खेलने लगे। तो वे लड़के लोग प्रायः कोई बात मनमें नहीं धरते। बालक लोग प्रकृत्या ही सरल होते हैं। तभी तो मुनिजनोंको बालक सदृश कहा। विकारप्रवृत्तिके प्रसंगमें ये बालक सदृश होते हैं। तभी तो हम समझते हैं अपने आपके लिए वैसा ही सबके लिए समझें, सबका आदर करें। अहंकार इस जीवनको बिल्कुल बरबाद करने वाली बात है, और देखो मिथ्यात्वका सम्बन्ध विशेष अहंकारके रूपमें बताते हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ निर्मोहता कहाँ? गर्वमें स्वरूपकी सुध कहाँ? क्रोधमें तो थोड़ी

याद भी रहती है। लोभमें भी थोड़ी याद रहती है। प्रयोगसे समझ लो, अनुभवसे समझ लो। जब यह बुद्धि रहती है कि ये सब तुच्छ हैं और मैं इनमें खास हूँ तो उस समय उसे आत्माकी सुध है क्या? अरे जैसे हम वैसे सब। हममें भी ज्ञान, सबमें भी ज्ञान। हमारे स्वरूपमें निरपराधता, सबके स्वरूपमें निरपराधता। तो जैसे मेरेको ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसे ही संसारके सभी जीवोंको ज्ञान उनके लिए प्रत्यक्ष है। तो यह ही प्रत्यक्षपना परोक्षकी कल्पनाको दूर कर देता है। कोई भी ज्ञान परोक्ष नहीं होता अपने आपके सम्बन्धके लिए। प्रत्यक्ष और परोक्षके जो भेद हैं ज्ञानमें ये बाह्य अर्थकी अपेक्षाके भेद हैं, स्वयं ही अपेक्षासे ये भेद नहीं हैं। जो जितना है वह उतना प्रत्यक्ष करता है अपनेको। इस विषयमें दार्शनिक शास्त्रमें विशेष विवरण चलता है। हां महिला दोष तो यह आया कि प्रत्यक्षसे ही विरुद्ध है। जो लोग कहते हैं कि करण ज्ञान परोक्ष होता है, जिस ज्ञानसे हम जानते वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष है, और यह ज्ञान हमें नहीं मालूम। यह प्रत्यक्ष नहीं, इसकी खबर नहीं सो बात नहीं। वहाँ ज्ञानकी पहले खबर है तब पदार्थको हमें जान पाया। कोई आदमी दिन भरकाम करता है और ऊपर सिर भी न उठाये तो क्या उसे ज्ञान नहीं है कि सूर्य है तब यह उजेला है। सबको अपना-अपना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञानको स्वयंमें अत्यन्त परोक्ष माननेपर प्रमाताओंका अनियम ज्ञानकी स्वयंमें परोक्षताके एकान्तमें दूसरा दोष देखो। यदि ऐसा माना जाये कि जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थको जानते हैं तो पदार्थ तो है प्रत्यक्ष स्पष्ट और वह ज्ञान है परोक्ष, जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं। परोक्ष मायने क्या? जिसकी समझ नहीं, स्पष्ट समझ नहीं तो मेरा ज्ञान मेरे लिए परोक्ष है तो अब उसका इससे कोई सम्बन्ध तो न रहा। अब यह परोक्ष ज्ञान अगर इस मन्दिरकी चीजोंको जान लेता तो दुनियाभर की, मुम्बई, कलकत्ता वगैरामें रहने वाले और लोग इस ही ज्ञानसे क्यों नहीं जान जाते? जैसे वह ज्ञान हमारे लिए दूर पड़ा वैसे ही सबके लिए दूर है। अगर परोक्ष यह सब बातें प्रत्यक्ष बनें तो इसी परोक्ष ज्ञानसे सबको ये बातें प्रत्यक्ष हो जानी चाहिए। देखो प्रारम्भसे सुनो जब हम पदार्थको जानते हैं तो इतनी मुद्रा बनती है। मैं ज्ञानके द्वारा अमुक चीजको जान रहा हूँ, ये चार बातें हुई। तो देखो 'मैं' यह भी हमारे ज्ञानमें है, "ज्ञानके द्वारा" यह भी हमारे ज्ञानमें है और चीजको जानता वह भी हमारे ज्ञानमें है, और जो जानना हो रहा वह भी समझमें है। चारों चीजें समझमें रहती हैं। मगर कोई लोग कहते हैं कि पदार्थ ही समझमें रहता और तीन बातें समझमें नहीं रहती, कोई दो बातें समझमें नहीं। तो मोटी बात यह जान लें कि ज्ञान एक ऐसा प्रकाशक तत्त्व है कि खुद अगर प्रकाशमय नहीं है तो पदार्थ भी प्रकाशमें नहीं आता। जैसे दीपक अन्य पदार्थको तो प्रकाशित करे और खुद प्रकाशमय न हो, ऐसा कभी हो सकता क्या? अगर ऐसा हो जाये तो कोई दीपकको उठानेके लिए जाये तो उसे दूसरा दीपक ले जाना पड़े, और दूसरे दीपकको उठाने जाये तो तीसरा दीपक ले जाना पड़ा। यों तो फिर दीपकोंको संख्या की कोई हद न रहेगी। अनेक दीपक उठाने जाना पड़ेंगे। यों दीपकोंकी फैक्टरी बनाये जानेमें सारा जीवन लग जायेगा और पदार्थको जान न पायेंगे। ऐसे ही हम

जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं वह ज्ञान अगर जाननेमें नहीं है और उस ज्ञानको जाननेके लिए हमारे दूसरा ज्ञान बनाना पड़ेगा और दूसरे ज्ञानको जाननेके लिए तीसरा ज्ञान बनाना पड़ेगा। तीसरे ज्ञानको जाननेके लिए चौथा ज्ञान बनावें, अगर यही रोजगार करते रहे तो फिर सामने पड़ी चीजका ज्ञान तो कर ही न पायेंगे। तो यहाँ यह निश्चित है कि ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष है और ऐसे ही स्पष्ट ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जानते हैं। देखो एक पद्धति है जब आँखें खोलकर पदार्थको जान रहे हैं तो हमें उस ज्ञानके जाननेकी मजबूती नहीं है। जरा आँखें बन्द करके जब विचारते हैं तो हमारा ज्ञान हमको बहुत स्पष्ट नजर आता। जिस ज्ञानके द्वारा वैसा हम जाना करते हैं। तो ज्ञानका स्वरूप बता रहे कि यह चकचकायमान है, स्वयं प्रकाशमान है, स्वयं एक जाननरूप है ज्ञान। उसे कह दिया परोक्ष। कैसा विचित्र यह दार्शनिक है?

आत्माकी ज्ञानमयता होने के कारण ज्ञान होनेकी सहज वृत्ति एक पुरुष किसी आचार्यके पास गया और कहा महाराज मेरेको ज्ञान नहीं है, मेरेको ज्ञान दीजिए। मेरेमें ज्ञान नहीं है मेरेको ज्ञान दीजिये। तो उसने कहा कि तुम चले जाओ अमुक नदीके अमुक घाट पर, वहाँ एक मगरमच्छ रहता है वह तुम्हें ज्ञान देगा। तो गया वह पुरुष मगरके पास, बोला मेरेको ज्ञान नहीं है मुझे ज्ञान दीजिए, मेरेमें ज्ञान नहीं है मेरेको ज्ञान दीजिये तो वह मगरमच्छ बोला अच्छा भाई ठहरो, हम तुम्हें ज्ञान देंगे। देखो तुम्हारे पास लोटा-डोर है, जावो पासके उस कुवेंसे एक लोटा पानी खींच लावो, पहले हम अपनी प्यास बुझा लें, बादमें तुम्हें ज्ञान देंगे। तो वह पुरुष बोला अरे मुझे तो गुरु महाराजने भेजा, तो वह भी बेवकूफ मालूम होते और तुम्हें ज्ञानी बताया तो तुम भी बेवकूफ मालूम होते। अरे तुम स्वयं पानीमें डूबे हुए हो, फिर भी प्यास बुझानेके लिए एक लोटा पानीकी मांग कर रहे हो। तो उस मगरमच्छने कहा कि भाई यही उत्तर तुम्हारे लिए भी है। तुम स्वयं ज्ञानसे लबालब भरे हुए हो, फिर भी कहते हो कि मेरेको ज्ञान नहीं है मुझे ज्ञान दे दो। अरे यह आत्मा ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है। ज्ञान सिवाय आत्माका स्वरूप ही क्या, सो तो बताओ? जैसे बाह्य पदार्थको हम देखते ना कि यह चौकी रूप वाली है, कठोर है, मोटी है, पिंडरूप है, ऐसे आत्मामें रूप, रस आदिक तो हैं नहीं? यह आत्मा कैसा विलक्षण पदार्थ है कि जिसकी कुछ उपमा नहीं दी जा सकती। ज्ञानमय पदार्थ, ज्ञानमात्र, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानरूप आत्मा। वह सत् है, इसलिए प्रदेशात्मक है। परमार्थ सत् है, उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है। पर है वह ज्ञानस्वरूप आत्मा। तो ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है। जिस ज्ञानके द्वारा हम खुदके द्वारा जानते हैं जिस ज्ञानके द्वारा यह कहलाता है ज्ञायक। दो तरह के कारण होते हैं ज्ञायक और कारक। कारक तो वह कहलाया कि जो कारण पड़ता है, निमित्त पड़ता है और ज्ञायक वह कहलाता है जो ज्ञान कराता है। जैसे भगवानका केवलज्ञान, ज्ञायकहेतु है, कारकहेतु नहीं। जो यह अर्थ लगाते कि भगवानने जाना सो होगा तो वह कारण हेतु नहीं। वह तो जो है सो जान लिया गया। वह ज्ञायक हेतु है, और जो ज्ञायक होता है वह खुद अगर अज्ञात हो तो ज्ञायक नहीं बन सकता। ज्ञायक तब ही ज्ञायक है जब कि खुद ज्ञात है। अज्ञात होकर कोई ज्ञायक नहीं

बनता। तो हम जिस ज्ञानके द्वारा जाने वह ज्ञान ज्ञायक बना, मायने ज्ञान कराने वाला बना। अब उस ज्ञानका ज्ञान न हो और ज्ञायक बन जाये, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे प्रकाशक पदार्थ वह बन सकता है जो खुद प्रकाशमय हो। जो खुद प्रकाशमय न हो वह दूसरेको प्रकाशित कर दे, ऐसा कभी होता नहीं। इसी तरह ज्ञान खुदमें ही ज्ञान द्वारा ज्ञानमें आ न रहा हो, आ ही नहीं सकता हो, ऐसा परोक्ष हो और उनके द्वारा विषयभूत पदार्थ ज्ञानमें आये ऐसा नहीं हो सकता है। इस कारण यह ही निर्णय रखना चाहिए कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञान स्वयं अपने आपको जानता हुआ पदार्थको जाना करता है।

स्वयंके प्रसंगमें ज्ञाताकी भाँति ज्ञान ज्ञेय व ज्ञप्तिकी भी प्रत्यक्षरूपता ज्ञानकी पद्धतिके सम्बन्धमें यहाँ विचार चल रहा है। सभी लोगोंको ज्ञान करते समय ऐसी मुद्रा बनती है कि मैं ज्ञानसे अमुक पदार्थको जान रहा हूँ। इसमें चार बातें आयीं। 'मैं' कर्ता, "ज्ञानके द्वारा" करण, "अमुक पदार्थको" कर्म और 'जान रहा हूँ' यह है क्रिया। यों कर्ता, कर्म, करण और क्रिया इन चार मेंसे कुछ लोग तो यह कहते हैं कि पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु कर्ता और करण प्रत्यक्ष नहीं होते। क्रिया कहो या फल कहो वह और अर्थ ये दो ही स्पष्ट होते हैं। तो किन्हींका कहना है कि करण और क्रिया याने फल ज्ञान ये दो स्पष्ट नहीं होते, केवल कर्ता और कर्म ही स्पष्ट होते हैं। परन्तु जैन सिद्धान्त यह बतला रहा है कि चारों ही स्पष्ट होते हैं कोई पुरुष जान रहा है किसी पदार्थको, मानो खम्भेको जान रहा है। मैं जान रहा हूँ तो इस 'मैं' के पीछे लड़ाई क्यों होती? इस 'मैं' के पीछे तो लोग विवाद करने लगते। तो मालूम होता है कि उसे 'मैं' के बारेमें बोध है। कैसा ही बोध सही। कोई जान रहा खम्भा। वहाँ कोई कहे कि नहीं है खम्भा। तो जानने वाले लोग ही विवाद करते हैं कि कैसे नहीं है खम्भा। खम्भा ही तो जाना जा रहा। तो जिस पदार्थको जाना वह भी प्रत्यक्ष हो गया और जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह भी प्रत्यक्ष है। और देखो जानना भी स्पष्ट जाना जा रहा है। कोई कहे कि तुम्हारा ज्ञान झूठा है तो वहाँ झट लड़ाई हो जाती है कि कैसे हमारे ज्ञानको झूठा बताते? तो ज्ञानका भी प्रत्यक्ष है और फलका भी प्रत्यक्ष है। जो यह माने कि करणज्ञान इस कारण प्रत्यक्ष नहीं है कि वह कर्मरूपसे प्रत्यक्ष नहीं। ऐसा मानने वाले यह बतायें कि कर्ता आत्मा फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा? क्योंकि आत्मा कर्मरूपसे तो प्रत्यक्ष होता नहीं। यदि आत्माको कर्ता रूपसे और कर्म रूपसे दोनों तरहसे प्रतिभास होना, प्रत्यक्ष होना मानोगे तो वहाँ भी फिर एक करण ज्ञान चाहिए, फिर और कर्ता चाहिए। इस तरहसे अनवस्था यहाँ भी आती है। तो सीधी बात मान लो कि मैं जानता हूँ, ज्ञानके द्वारा जानता हूँ, अमुक पदार्थको जानता हूँ। जानना हो रहा है, ये चारों बातें स्पष्ट रहा करती हैं। वहाँ ऐसा मत कहो कि केवल आत्मा प्रत्यक्ष है और अर्थ प्रत्यक्ष है। करण ज्ञान व फल ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। हां इतनी बात तो अवश्य है कि ज्ञान तो करणसे प्रत्यक्ष है, आत्मा कर्ता रूपसे प्रत्यक्ष है और पदार्थ कर्म रूपसे प्रत्यक्ष है और फल क्रिया रूपसे प्रत्यक्ष है। स्पष्ट चारों हैं। कहीं करणरूपसे प्रत्यक्ष होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नहीं मानते तो आत्मा भी प्रत्यक्ष नहीं रह सकता।

क्योंकि वह भी कर्ता रूपसे प्रत्यक्ष है, कर्म रूपसे प्रत्यक्ष नहीं। यह बात तो चल रही है भिन्न पदार्थके बोधके विषय में, क्योंकि दार्शनिक विधिसे स्वका और परका निर्णय होता है। परका यह आत्मा ज्ञान नहीं करता, स्वका करता है, यह बात तो एक निश्चयदृष्टिसे है। मगर क्या यह सर्वथा झूठ है कि बाहरी पदार्थोंका आत्माको ज्ञान नहीं होता? वह परमार्थ और व्यवहारका अन्तर है। जाननेमें सब आयेगा। चाहे जिस विधिसे जाननेमें आया हो, मगर आयेगा प्रत्यक्ष, ऐसा सबने जाना। तो दार्शनिक विधिसे इस ही तत्त्वका निर्णय बना रहे, मैं भी स्पष्ट, ज्ञान भी स्पष्ट, पदार्थ भी स्पष्ट और क्रिया भी स्पष्ट।

स्वयंके प्रसंगमें फलज्ञानकी भाँति ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी भी प्रत्यक्षता अब मीमांसकोंमें जो एक दूसरा भेद है प्रभाकर। वे कहते हैं कि फल स्पष्ट है, पर आत्मा स्पष्ट नहीं होता। मैं जानता हूँ, इसमें मैंका भी बोध नहीं हो पाता। ज्ञानके द्वारा जानता हूँ, उसका भी बोध नहीं होता। बस पदार्थ जाना जा रहा है और ज्ञान समझमें आ रहा है। देखो जितने भी दार्शनिक होते हैं वे सब अपनी बुद्धि तो रखते ही हैं। कभी-कभी ऐसा अपनेको भी समझ होती है कि जो दार्शनिक कह रहा वह ठीक ही तो कह रहा। प्रायः लोगोंको दिखता है कि लोग सब कुछ जान रहे हैं पर उन्हें अपने आपकी कुछ खबर नहीं और न ही ज्ञानकी खबर। और जानना बन रहा है इसको भी वे दृढ़तासे कहते और पदार्थको भी दृढ़तासे कहते। ऐसा तो लोगोंका समुदाय बहुत है। और देखो जब तक स्याद्वाद विधि पूर्ण समझमें न आये और अन्य दार्शनिकोंकी विधि समझमें न आये तो ऐसा ना समझने वाले लोगोंको कभी-कभी दूसरे दार्शनिकोंकी बात भी प्रिय लगती है और अपने स्याद्वाद विरोधका डर लगा है तो अपने स्याद्वादमें उसे ढाल देते हैं, पर एक यह बड़ा गहन ज्ञानका विषय है। नयचक्र बड़ा गहन बना है। उसमें यों ही साधारण जनोंका प्रवेश नहीं होता। निर्णय करो प्रमाणसे पूरा, फिर तुम्हें जिसकी मुख्यतामें कल्याण जंचे उसको दृष्टिमें कर लो। परन्तु निर्णय ठीक रखो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, सामान्य विशेषात्मक है, उसमेंसे न द्रव्य झूठा, न पर्याय झूठा, न सामान्य झूठा, न विशेष झूठा, जानो सबको। और जिससे स्वभाव दर्शनकी प्रेरणा मिले उसे मुख्य करें दूसरेको गौण करें, यह ही एक कल्याणकी रीति है। तो यहाँ ज्ञानकी बात चल रही है। 'मैं जानता हूँ' यह भी स्पष्ट है, 'जानता हूँ' यह भी स्पष्ट है, 'अमुकको' यह भी स्पष्ट है, 'ज्ञान द्वारा' यह भी स्पष्ट है। अगर कहो कि आत्माका प्रत्यक्ष इस कारण नहीं होता कि इसका कर्मरूपसे ज्ञान नहीं होता। मैं जानता हूँ, यह ही ऐसा सोचता है जीव। मैं जीवको जानता हूँ, ऐसा तो नहीं सोचता कि मैंको जानता हूँ। तो जब उसमें मैं न लगे, कर्मरूपसे उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं तो अरे प्रभाकर भाई यह ही बात तो तुम्हारेमें आयेगी, फलमें बारेमें भीको नहीं लगा रहे वह भी कर्मरूपसे ज्ञान हो जायेगा। तो फलज्ञान दूसरा हो गया। फिर उसका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष होगा तो फलज्ञान तीसरा होगा। यों अनवस्था दोष आयेगा। तो मैं कर्ता, ज्ञान करण, ज्ञेय कर्म व ज्ञप्ति फल ये चारों ही स्पष्ट समझो। चारोंको स्पष्ट माने बिना कहीं ठिकाना न पड़ेगा। तो सीधा आप जान लें, मैं

जानता यह भी स्पष्ट अर्थको जानता हूँ, यह स्पष्ट व जान रहा हूँ यह भी स्पष्ट है। ये चारों बातें स्पष्ट होती हैं ज्ञान में। तो ज्ञेयमें जैसे परोक्षता नहीं वैसे ही आत्माका परोक्षपना भी नहीं, और ज्ञानमें भी परोक्षपना नहीं, फलमें भी परोक्षपना नहीं है। कोरी हठ मत करो।

आत्मकृपालु होकर सहज परमात्मतत्त्वके उपासक बनो भैया! विवेक करो और देखो, अपनेको यहाँ पड़ी क्या है? मनुष्य हुए हैं तो कर्तव्य यह है कि जिस प्रकार बने आत्महित कर लें। कषायें करनेके लिए जीवन नहीं है यह। और जो अपने जीवनको कषायोंमें लगा देते हैं वे आत्महित नहीं पा सकते। कषाय तो धर्मके प्रसंगमें भी मत करो। बल्कि अन्यकामोंमें कषाय हो जायें, उसके घर में, दूकानमें और जगह अगर कषाय जग जाये तो उसके उद्धारकी सम्भावना है, मगर धर्मके प्रसंगमें तत्त्वज्ञान में, और बातोंमें ऐसी कषाय जग जाये कि यह कुछ नहीं, यह विरोधी है, यह मेरा, वह फलानेका, वहाँ उद्धार पाना बहुत कठिन है। जैसे कहते हैं ना कि अन्य स्थानोंमें पाप करे तो वह धर्मस्थानमें नष्ट हो जायेगा और अगर धर्म स्थानमें पाप करे तो वह कहाँ नष्ट होगा? तो भाई अगर कुछ ज्ञान है, बोध है तो सबसे पहले इसका आदर करो कि मेरेमें कषायें न जगें और फिर आत्मकृपालु होकर सोचो मुझे क्या करना? यहाँ कुटुम्ब बनाकर जाना क्या? उससे पूरा पड़ जायेगा क्या? या पक्ष पार्टी बनाकर मर गए तो उससे पूरा पड़ जायेगा क्या? या कोई बहुत बड़ा यश-कीर्ति नाम कमाकर चले गए तो उससे कुछ पूरा पड़ जायेगा क्या? अरे अपने आत्मापर कुछ दृष्टि करो और धर्मके प्रसंग में, धर्म धारणके प्रकरणमें इन सब बातोंका परिहार कर दो। बस मैं हूँ और मेरी दृष्टिमें मेरा स्वरूप है, और मेरी इस स्वरूपदृष्टिके सहायरूपमें प्रभुका स्वरूप है, भक्ति है। भक्ति और ज्ञान इन दोके सिवाय और क्या चाहिए? अगर अपना उद्धार करना है तो दो बातें करो भक्ति और उद्धार, क्योंकि ये कषायें न जाने कहाँसे कहाँ ले जायें, कहाँ पटक दें? अभी आप देखो आपकी ही समाजमें कुछ लोग ऐसे हो गए हैं कि जो बड़े पंडित भी माने जाते थे वे कषाय जग जाने के कारण अपने जीवनको बरबाद कर गए। तो इन कषायोंका अपनेमें अंकुर ही मत जगे। कमसे कम धर्मके मामलेमें तो कषायें न जगें। और जगह हीकी कुबातमें तो धर्मके स्थानमें आयेंगे तो उसका निपटारा हो जायेगा, ढंग बन जायेगा, किन्तु धर्म प्रसंगकी कषायका निपटारा कहाँ करोगे? इसलिए हठ न करके कषाय न करके मैं हूँ, मेरेको अपने आत्माका उद्धार करना है। आत्माका उद्धार स्वभाव दृष्टि बिना नहीं हो सकता। स्वभावदर्शनके लिए हमारा जीवन है। उसमें ही हमको चलना है। एक मात्र यही दृष्टि रखें, देखो आपको आगमके प्रत्येक शब्दके स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिलेगी अन्यथा वह आगम न कहलायेगा। देखिये चार अनुयोग हैं (१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इन चारों अनुयोगोंसे आपको स्वभावदर्शन की, ब्रह्मदर्शनकी शिक्षा मिलेगी। तो एक वास्तवमें अगर रुचि है स्वभावदर्शनकी तो सब जगहसे शिक्षा ले लेगा और जिसे स्वभावदर्शनकी रुचि नहीं है तो वह एक हठी हो जायेगा। भैया! हठी न बनें और यह जानें कि इस विपत्तिसे भरे संसारमें हमारा जो यह जन्म-मरण चल रहा है उस जीवनमें

अगर कुछ वर्ष ऐंठ गए, शान, गराई, ममत्व किया तो मरण तो होगा ही, फिर क्या किया जायेगा? उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। इससे इस १०-५ वर्षके आराममें आसक्त न रहें। और आराम भी कुछ नहीं, कष्ट ही है जिसे आराम मानते हैं। यहाँ तृप्त न रहकर एक अलौकिक आत्मीय मौजमें आवें और अपने स्वरूपको देखें, संतप्त हों जिससे कर्म भी कटें और जनम-मरणसे छुटकारा भी हो।

ज्ञानकी स्वसंवेदिताकी संवेदना ज्ञान क्या जानता है, कैसे जानता है यह अपनी ही चर्चा है। ज्ञान है ज्ञानज्योतिस्वरूप, वह अपनेमें अपनाकाम करता रहता है। उसकाकाम है जानना। सो ज्ञान परको विषयभूत बनाकर निज ज्ञेयाकारको जानता रहता है। इस तथ्यको यदि सीधा कहो कि ज्ञान परको जानता है तो भी कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि उसका अर्थ समझ लेना। यहाँ एक शंकाकार कह रहा है कि ज्ञान परको जानता है, इसमें तो हमें कोई आपत्ति नहीं। जान ही रहे, हम मकान जानते, स्त्री-पुत्रादिक परिजनको जानते सबको जान रहे हैं मगर हम ज्ञानको नहीं जान सकते। ऐसी बात तो थी मीमांसक की। अब थोड़ा और ढंगपर आये तो यह कहने आये कि ज्ञानको जाना तो जा सकता है, मगर ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है। जो ज्ञान वस्तुको जान रहा है वही ज्ञान अपने ज्ञानको भी जाना जाये, सो बात नहीं होती। अब यह प्रकरण रखा जा रहा है नैयायिक सिद्धान्त में। ज्ञानको अस्वसम्बेदी मानते हैं। होती तो है उसकी समझ, मगर शंकाकारको मदद दो तो सोचकर कुछ ऐसा लग रहा होगा कि हम जिस ज्ञानके द्वारा जिस पदार्थको जानते हैं और जब हम जाननेको चलते हैं कि इस पदार्थको जान रहे हैं तो यह ज्ञान हमारा सही है या नहीं? जब यह ज्ञान उठता है तो कहता है कि हां सही है। इसी आधारपर शंकाकार कह रहा है कि ज्ञान जाना जायेगा तो किसी दूसरे ज्ञान द्वारा जाना जायेगा। उसकी युक्ति है कि ज्ञान चाहे कितना ही सूक्ष्म हो, कितना ही कुशल हो और स्पष्ट हो, मगर ज्ञान अपनेको यों नहीं जान सकता कि जैसे तलवार कितनी ही पैनी हो, मगर तलवार अपने आपको नहींकाट सकती। तो जैसे तलवार खुदको तलवारको नहींकाट सकती उसी तलवारको, ऐसे ही ज्ञान खुद-खुदको नहीं जान सकता, ऐसी एक आशंका नैयायिकोंकी ओरसे आ रही है। अब इसके समाधानमें चलें। तो जैसे उसने दृष्टांत दिया ऐसा ही दृष्टांत तो हम आप भी दे सकते हैं। सभी जानते हैं कि दीपक परको प्रकाशित करता है तो वह स्वप्रकाशक होता हुआ ही परका प्रकाश कर पाता है जो स्वप्रकाशक न हो पदार्थ और परको प्रकाश कर दे ऐसा उदाहरण न मिलेगा। आप कहेंगे कि बैट्री तो है ऐसी। जब बैट्री नहीं दिखती तब खुदको जो प्रकाशित नहीं करती, पर बाहरके सब पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं तो आप यह बतलावें कि बैट्री कितनी कहलाती है? क्या पीछे जो कोई एक बिलस्तकी लम्बी डंडी लगी है वह बैट्री कहलाती है? अरे वह बैट्री नहीं है। बैट्री तो वह है जो आगेका बल्ब है, जो कि स्वयं प्रकाशमान है। अगर वह ही प्रकाशमान न हो तो बाहरी पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकते। तो जैसे बैट्री स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है, ऐसे ही यह ज्ञान स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है। तो यह ज्ञान स्वयं चकचायमान है, सर्वांग प्रकाशमान है। वहपर पदार्थोंका ज्ञान करता रहता है। तो ज्ञान स्वयं अपने आपको भी जानता है और परको भी जानता है।

जितने रूपमें ज्ञान है उसे संवेदनके लिये अन्य ज्ञानकी अनावश्यकता अब देखो जो एक थोड़ा-सा विचार किया था कि जब हम किसी ज्ञानको समझनेके लिए चलते हैं कि मेरा ज्ञान सही है या नहीं तो झट दूसरा ज्ञान पैदा हो जाता है। तो इसमें आपको दो बातें समझनी पड़ेंगी। एक तो यह कि जानने वाले ज्ञानके विषयमें अलगसे उसे समझनेकी जिज्ञासा कब होती है जब कि उस ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ है उसमें शंका हो रही हो। जैसे पड़ी तो है सीप और जान रहे कि यह सीप है या चांदी। जब वहाँ ही लटकपन चल रहा है तो वहाँ ही अपने ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए अन्य ज्ञान चलता है याने पूर्व ज्ञानके लटकपनको दूर करनेके लिये ज्ञान बना। आप ठीक-ठीक समझते जाओ। ज्ञानमें शंका होती है तो ज्ञानके विषयभूत अर्थके बारेमें निर्णय न होनेपर शंका होती है, ऐसी स्थितिमें अब यह ज्ञान प्रमेय बना और अन्य ज्ञान ज्ञायक बन गया। होती है ऐसी स्थिति, उसका अर्थ यह है, उस ही पदार्थमें होने वाले संशयका निवारण करनेके लिए दूसरा ज्ञान बनाते हैं और इसी कारण वह पहिला ज्ञान संशयज्ञान हुआ। वह ज्ञान बनता एक उस विषयका अचेत निवारण करनेके लिये। अब अचेतनका पदार्थका प्रतिनिधि बन गया और उसको समझनेके लिए एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है। विषय बदल गया, पर एक ही विषयको लेकर जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्वका प्रकाशक भी है परका प्रकाशक भी है। अब देखना ज्ञान यदि स्वको न जाने और वह दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाये, दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाये वह तीसरा ज्ञान किसी चौथे ज्ञानके द्वारा जाना जाये तो यह तो एक बड़ी विडम्बनाकी बात बन जायेगी। पर ऐसा कभी हो नहीं सकता। जो ज्ञान सुखको नहीं जानता वह दूसरेको भी नहीं जान सकता। जब कोई विषयभूतपर पदार्थ जाननेमें आता है तो वह लोग यहाँ दृष्टि नहीं देते हैं तो लोग ऐसा जानते हैं कि हम पदार्थको तो जानते, मगर जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं उसको नहीं जानते। पर यह कभी हो नहीं सकता। जैसे दीपकके द्वारापर पदार्थ तो प्रकाशित हो जायेपर खुद प्रकाशित न हो, ऐसा कभी हो नहीं सकता। ऐसे ही यह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है ज्ञानस्वरूप शाश्वत रहता है। इसका अन्य स्वरूप ही क्या?

निजस्वरूपकी बेसुधीमें परेशानियोंका भार अपने स्वरूपकी सुध खोकर ही हम परकी आशा लगाये फिरते हैं। जैसे जिसके घरमें कहीं बहुत धन गड़ा है, पर उसका उसे पता नहीं है तो वह बड़ा दीन, गरीब, भिखारी, कायर रहेगा। इसी प्रकार यह आत्मा अपने ही ज्ञानानन्दसे सम्पन्न है पर उसकी सुध न होनेसे वहपर पदार्थोंका भिखारी बना फिर रहा है, उनसे अपने सुखकी आनन्दकी आशा करके भिखारी बना फिर रहा है। जैसे रेगिस्तान में कोई हिरण किसी सूखी नदीमें अपनी प्यास बुझानेके लिए पानीकी तलाशमें इधर-उधर खोजता फिर रहा था। दूरकी चमकती हुई रेत उसे पानी जैसी मालूम पड़ी तो वह गर्दन उठाकर उसकी ओर दौड़ लगाता है। जब वहाँ पहुंचता है तो नीचे तो देखता नहीं है कि जहाँ देखो पानीका वहाँ नाम नहीं। वह तो मुंह उठाये दौड़ता रहता है कुछ और दूर दृष्टि डाली तो फिर दूरकी चमकती हुई रेत पानी जैसी मालूम पड़ी, फिर वहाँ दौड़ लगाया। वहाँ जाकर देखा तो पानीका नाम नहीं। यों वह हिरण दौड़-दौड़कर अपनी प्यासकी वेदनाको और

भी बढ़ा लेता है और अन्तमें दौड़ लगाकर मर जाता है। ठीक ऐसे ही यह संसारी प्राणी अपने सुखस्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंसे सुखकी आशा करके उनके पीछे दौड़ लगा-लगाकर हैरान हो जाता है, पर नम्र विवेकी बनकर जानना ही नहीं चाहता है कि यहाँ सुखका नाम नहीं, आखिर दौड़ लगा-लगाकर अन्तमें वह मरणको प्राप्त हो जाता है। तो अब कुछ इस दौड़से हटना चाहिए और अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी ओर कुछ दृष्टिपात करना चाहिए।

ज्ञानकी स्वव्यवसायात्मकताका उपसंहार यहाँ ज्ञानस्वरूपकी बात चल रही है। आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है तो उस ज्ञानकी कुछ सुध तो होनी चाहिए कि मैं किस प्रकार ज्ञानस्वरूप हूँ? मैं ज्ञानरूप हूँ इसमें स्व और परप्रकाशकताका गुण पड़ा हुआ है। ज्ञान अपना भी प्रकाशक है और परका भी प्रकाशक है। यहाँ स्वके मायने आत्मा नहीं माना कि ज्ञान आत्माका प्रकाशक है और परका प्रकाशक है। भेददृष्टिसे निर्णयकी बात चल रही है। स्वके मायने हैं ज्ञान स्वयं खुद, क्योंकि यह स्व-परप्रकाशकता मिथ्यादृष्टिके भी है, सम्यग्दृष्टिसे भरी है। ज्ञानमें ही स्वयं ऐसी कला है कि ज्ञान स्वयंका भी ज्ञान कर रहा है, अच्छा है, ठीक है, दृढ़ता है। और परके बारेमें भी निर्णय कर रहा है। यहाँ अगर आत्माको जाना तो आत्मा कहलायेगा अर्थ और ज्ञान कहलायेगा स्व। जैसे किसीपर पदार्थको जानते समयपर तो हुआ पदार्थ और स्व हुआ ज्ञान। अर्थात् ज्ञानमें ऐसी स्व परप्रकाशकता अर्थात् स्वार्थ व्यवसायीपनकी कला है। यद्यपि ज्ञान आत्मासे जुदा नहीं है और इसी कारण ज्ञानने जाना कहो या आत्माने जाना कहो, फिर भी कर्ता कर्म क्रियाका भेद करके निर्णय कीजिए, वहाँ यह बात कही जा रही है कि ज्ञान जिसके अभिमुख हो वह तो है प्रकाशमय और वह ज्ञान कहलाता है प्रकाशक। तो उस ज्ञानके सम्बन्धमें निर्णय बना कि यह ज्ञान स्वयं नहीं जाना जाता, यह अयुक्त कथन है। एक बार और ध्यान देनेकी है कि ज्ञानको स्वपर प्रकाशक कहा है, वहाँ परका अर्थ यह लगाना चाहिए कि ज्ञान अर्थका प्रकाशक है तथा स्वका अर्थ करना खुदका तो परपदार्थ जाना तो अर्थका प्रकाशक रहा, आत्मा जाना तो अर्थका प्रकाशक रहा। सो ज्ञानमें जब स्वका अर्थ किया तो ज्ञानके अतिरिक्त जो कुछ भी जाननेमें आया वह पर कहलाता है। ऐसा स्व परव्यवसायात्मक ज्ञान स्वयं अपने ज्ञानके मंतव्यकी बात कुछ पहले बतायी गई थी। यहाँ इतनी बात समझना कि अगर ज्ञान खुदको न जाने और ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाये तो दूसरे ज्ञानको जाननेके लिये तीसरा ज्ञान चाहिए। इस तरह बढ़ते जायें। कभी अवस्थान ही न होगा। तो लो पहले इसी कर्मसे न निपट पाये फिर पदार्थ जानना तो दूर रहा, क्योंकिकोई भी ज्ञान अज्ञात रहे तो वह अपने विषयको नहीं जान सकता। देखो हेतु दो प्रकारके होते हैं ज्ञायक औरकारक। ज्ञायक मायने ज्ञान करने वाला औरकारक मायने उपादान निमित्त। तो जो ज्ञायक हेतु होता है उसमें यह निश्चय है कि ज्ञायक अज्ञात होकर ज्ञान करने वाला नहीं होता।

ज्ञानको प्रकृति धर्म मानने वालेकी ओरसे उठे हुए ज्ञानको अचेतन करार कर देनेके लिये प्रस्तावपर विचार मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, इस सूत्रमें अनेक बातोंका स्पष्टीकरण

किया गया है। अब आखिरी एक बात आ रही है कि ये सांख्यान्यायी कहते हैं कि ज्ञान तो अचेतनका धर्म है। ज्ञान अचेतन है, प्रकृतिका परिणाम है, वह चेतन नहीं है, उसका आत्मासे मतलब नहीं है। आत्मा तो सिर्फ चैतन्यस्वरूप है, पर उसमें ज्ञान नहीं है। ज्ञानमें और चेतनमें अन्तर है। ज्ञान तो एक विकल्प और समझमें आने वाली बात है, और चेतन एक चित् गया, चेत हो गया, बस इतनी ही उसमें बात है। ज्ञान तो चेतनका धर्म नहीं, किन्तु अचेतन प्रवृत्तिका धर्म है। इस प्रकारकी समस्या सांख्य सिद्धान्तकी ओरसे आ रही है, और वे कहते हैं कि देखो जो-जो प्रमेय होते हैं वे सब अचेतन होते हैं, जो-जो बात जाननेमें आती हैं वह सब अचेतन होती हैं। जैसे पृथ्वी, घड़ा, ये सब जाननेमें आ रहे तो ये अचेतन हैं। तो जाननेमें ज्ञान भी आ रहा है, इस सम्बंधमें बहुत खुलासा नैयायिकोंके सिद्धान्तकी चर्चा करते हुए कर दिया है कि ज्ञान जाना जाता है, ज्ञान परोक्ष नहीं होता, ज्ञात होता है तब यह ज्ञान परको जानता है। तो ज्ञान जाननेमें आयी हुई चीज है ना? ज्ञेय है ना? तो जो-जो ज्ञेय होता और जो प्रमेय होता वह सब अचेतन है। तो जैसे घड़ा, कपड़ा आदिक ज्ञेय बन रहे, जाननेमें आ रहे तो ये अचेतन हैं। इसी प्रकार यह ज्ञान भी जाननेमें आ रहा है इसलिए यह अचेतन है और अचेतन प्रकृतिका धर्म है। इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्तानुयायी ज्ञानको अचेतन जाहिर करनेका प्रस्ताव रख रहे हैं। हां बोलो इसका समर्थन करने वाला क्या कोई है क्या? सब लोग इस दिलको टटोलने लगेंगे कि हम किस हृदयसे समर्थन करें? प्रतीतिमें तो आ रहा है कि यह ज्ञान चेतने वाला है। सो यह चेतनका स्वरूप है। समर्थन करने वाला कोई नहीं उठ रहा, तो निर्णय होता है कि यह कथन यह प्रस्ताव प्रतीतिके विरुद्ध है, प्रतीति का अपलाप करने वाला है। सभी जीवोंका चेतनात्मक रूपसे इस ज्ञानका ज्ञान होता है। जैसे आत्माका चैतन्यात्मक रूपसे बोध होता ऐसे ही ज्ञानका भी चेतनात्मक रूपसे बोध होता है। यह प्रधानका परिणाम नहीं है। प्रधान मायने प्रकृति। प्रकृतिका क्या रूप है? कर्म। यह कर्मका परिणाम नहीं है ज्ञान, प्रधानका परिणाम नहीं है ज्ञान।

प्रकृतिविस्तारका दिग्दर्शन देखो प्रकृतिका नाम प्रधान क्यों रखा कि यह ही तो प्रधान है। संसारका जितना ठाठ-बाट चल रहा है, ये जीव किलबिला रहे, जन्म-मरण करते हैं, सुख-दुःख पाते हैं, जो-जो कुछ भी विडम्बनायें बन रही हैं इनमें प्रधानका ही तो खेल है। प्रधान प्रकृतिका खेल रूप इस संसारकी इस सृष्टिमें प्रधान कौन है? प्रकृति। अब रह गई एक पुरुषकी बात तो उसकी सृष्टि ऐसी विलक्षण है कि वह दुनियाको दिखनेमें नहीं आती, अपने आप में प्रतिभास मात्र है। वह लोगोंके लिए प्रधान बन ही नहीं सकता, इसीलिए सांख्योंने प्रकृतिका नाम प्रधान जो रखा और प्रकृति नाम क्यों पड़ा? तो कृति मायनेकार्य प्र मायने प्रकृष्ट। बहुत प्रकृष्ट जो कृति हो या प्रकृष्ट कृति जिससे बनती हो उसे कहते हैं प्रकृति। लोग कह तो देते हैं कि प्रकृति मायने कुदरत। अब कुदरत क्या? कहाँ देखें कुदरत? कहीं मिल जायेगा कुदरत? कहते हैं कि कुदरतका सब खेल है। अरे वह कुदरत क्या है? नट है या क्या चीज है कुदरतका खेल? कहाँ देखें वह कुदरत क्या है? यह ही कर्म प्रकृति।

कर्मप्रकृति ऐसा समर्थ निमित्त है कि जिसका निमित्त पाकर संसारमें यह सब नाच हो रहा है। पर अपनेको इससे क्या मतलब? नाच देखनेसे हमारा कोई प्रयोजन बनेगा क्या? और नाचका जो निमित्त है, उस प्रकृतिकी पूजा करने से कोई प्रयोजन बनेगा क्या? और तो जाने दो सम्यक्त्वका निमित्त है ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम और कोई उपशम क्षय, क्षयोपशमकी ही चर्चा बनाये, वहाँ ही दृष्टि गड़ाये तो उस समयमें सम्यक्त्व हो जायेगा क्या? निमित्त तो अवश्य है, मगर सम्यक्त्व एक ऐसी निर्विकल्प दशा है कि उस समयमें आश्रयभूत बाह्य पदार्थ नहीं होता। निमित्त नहीं होता यह बात नहीं, निमित्त तो होगा ही। जितने भी विषयकार्य होते हैं विषयमें मायने विभावपरिणमन व स्वभावकी आदि मायने जोकाम पहले हो रहा हो उससे विपरीत कोई बात आये तो वह किसी निमित्तपूर्वक होता है अन्यथा अनादिसे क्यों नहीं ऐसा हो रहा? तो भले ही निमित्त है, लेकिन निमित्तका आश्रय करनेके समयमें सम्यक्त्व और स्वरूपमग्नता जैसी दशा नहीं होती, ऐसी ही यह विधि है। स्वभाव विकासका विधान ही ऐसा है कि एक स्वका आश्रय करनेकी धुन रखे तब जैसा जिस तरह होना है वह होता चलेगा। तो यह सारा संसार प्रधानका परिणाम है। जब कभी आप शिमला, मंसूरी याकाश्मीर वगैरहमें दृश्य देखते हैं तो बड़े सुहावने लगे, पहाड़, पेड़, झरना और विभिन्न प्रकारके वृक्ष और अनेक प्रकारके पक्षी, जब ये सब दृष्टिमें आते हैं तो वहाँ झट कह उठते हैं कि वाह कितना सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है! तो वह प्रकृतिके मायने क्या? प्रकृतिका अर्थ है कर्मकी प्रकृतियोंका निमित्त पाकर बनावट होना। तो ये सब पेड़ बने हैं ये भी कर्म प्रवृत्तियोंके निमित्तसे बने हैं। जलप्रवाह चल रहा, पक्षीजन कलरव कर रहे, जो-जो कुछ भी हो रहा वह सब प्रकृतिका खेल है। तो प्रकृति है, मगर उसे सुन्दर न कहो। जगत में कोई भी चीज हमारे लिए रम्य नहीं है। उसे अच्छा कह लो या सुन्दर ही कह लो, कुछ हर्ज नहीं। जगतमें जो भी बाह्य चीजें हैं वे सुन्दर हैं। सुन्दरके मायने सु उन्द् अर, सु मायने अच्छी तरह से, उन्द् क्लेदने धातु हैं, जिसका अर्थ है तड़फाना और अर् प्रत्यय लग गया, तो उसका अर्थ हो गया कि जो अच्छी तरहसे तड़फा-तड़फा कर बरबाद करे उसका नाम है सुन्दर, यह सुन्दरका अर्थ बतलाया। जिस सुन्दरपर लोग लट्टू हैं उसकी पोल बतायी हैं। क्या करें, रूढ़ि हो गई तो अच्छेकामके लिए भी लोग सुन्दर शब्दका प्रयोग करने लगे। जैसे सत्यं शिवं सुन्दरम् इस तरहसे सुन्दर शब्दका प्रयोग यदि शब्दानुरूप बोलना है तो न करना चाहिए। क्योंकि सुन्दर शब्दका अर्थ है जो भली प्रकार तड़फा कर नष्ट कर दे। हां वह प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुन्दर लग रहा तो देखो सुन्दर है वह तब ही तो कलेवा करनेकी भी सुध नहीं रहती। तो देखिये वह दृश्य बरबाद ही तो कर रहा। तो जितना जो कुछ यह ठाठ-बाट है, दृश्यमान जगत है वह सब प्रधानका परिणाम है।

ज्ञानकी चेतकता और स्वार्थव्यवसायात्मकता सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि जो बातें समझमें आयीं वह सब प्रधानका परिणाम है। ज्ञान भी ज्ञानमें आता है तो वह भी प्रकृतिका परिणाम है। अचेतन है, आत्माकी चीज नहीं। ऐसा कहने वाले सांख्योंकी न तो यह बात प्रतीतिसे सिद्ध होती

है और न युक्तिसे सिद्ध हो सकेगी, तब क्या मानना कि ज्ञान आत्माका धर्म है, चेतन है और उस ज्ञानके ये सम्यक् विशेष हैं। ज्ञान जितना होता है वह स्वार्थव्यवसायात्मक होता है। देखो ज्ञानका स्वरूप है यह दार्शनिक ढंगसे जो सर्वत्र युक्तिसंगत बैठेगा। जो स्वार्थ व्यावसायात्मक है उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थ क्या? स्व मायने खुदका अर्थ, मायने पदार्थका, व्यवसाय मायने निश्चय कराने वाला, जो खुदका और पदार्थका निश्चय कराने वाला है उसको ज्ञान कहते हैं। जब यह ज्ञान इन घटपट आदिकको जान रहा है तब उस समय स्व क्या है? यह ही जानने वाला ज्ञान और अर्थ क्या है? घट-पट आदिक परपदार्थ और जब यह ज्ञान आत्माको जान रहा है तो स्व क्या कहलाया? ज्ञान, जानने वाला ज्ञान। और अर्थ क्या कहलाया? आत्मा। यह ज्ञानके स्वरूपकी बात कही जा रही है। जो स्वरूप अज्ञानीमें भी है, ज्ञानीमें भी है। तो ज्ञानका एक ढंग है कि ज्ञान जानता है तो इस विधिसे ही जानता है कि ज्ञानका भी ज्ञान करता रहता है। आत्माका हो चाहे न हो और ज्ञानका भी ज्ञान सही जीवको है या न हो मगर ज्ञान है, जानना हो रहा है। जानना, इतना अगर खुदमें बोध न हो तो कुछ अनुभव ही न बनेगा। अकेन्द्रियको भी बोध है, केवल अपने ज्ञानसे जो कुछ भी समझ रहती है, जितना ज्ञान है, जितना अवग्रह है, जिस पदार्थको जानता है वह तो हुआ अर्थ और जिस ज्ञानके द्वारा जानता है वह हुआ स्व। यह ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। क्योंकि थोड़ी देरको विचारों कि यदि ज्ञान स्वका भी ज्ञान नहीं कर पाता, केवल अर्थका ही ज्ञान कर पाता तो इसको कभी दुःखका अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख आता तो अनुभव किस विधिसे आता? ज्ञानात्मक विधिसे ही तो आता है। तो ज्ञान चल रहा सब जीवोंके निगोदसे लेकर पंचेन्द्रिय तक सब जीवों में। जो ज्ञान चल रहा, जहाँ जितनी योग्यता है चल रहा, वह इस विधिसे ही चल रहा कि वह स्वको भी जानता और अर्थको भी जानता, मगर विश्लेषण नहीं कर पाये यह बात अलग है। तो ऐसा यह ज्ञानका स्वरूप है जो स्व और अर्थका निश्चय कराये। तो ऐसा यह चैतन्य है। आत्माका ज्ञान है और साथ ही चूँकि सम्यक्का अधिकार है, सम्यग्ज्ञानका अधिकार है तो सम्यक् मति आदिक भेदोंको लेना। इस ज्ञानसे निगोदका ज्ञान न लें, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय ज्ञान न लें, पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि इसके ज्ञानकी बात इस सूत्रमें नहीं कह रहे हैं क्योंकि यह अध्याय जो बना है तो इस आधारपर बना है प्रमाणनयैरधिगमः। समस्त तत्त्वोंका सम्यग्दर्शन आदिकका जो बोध होता है वह प्रमाण और नयोंसे होता है। तो उन्हीं प्रमाणोंकी चर्चा चल रही है। बोध करने वाला ज्ञान सम्यक् होता या मिथ्या? सम्यक् होता तब ही तत्त्वका सच्चा बोध हो पाता। तो इनमें जो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ५ ज्ञान विशेष कहे हैं वह सम्यग्ज्ञानके विशेष कहे हैं। इस प्रकरणमें ज्ञानका स्वरूप प्रमाणके विवरणमें आया इसलिए कहा। यहाँ ज्ञानके इस स्वरूपकी बात और है, वह तो घटाना है सब जीवों में। और सम्यग्ज्ञानकी बात और है। तो इस प्रकार सम्यक् अधिकारमें इन ५ ज्ञानोंका स्वरूप बताया है।

मति श्रुत आदि ज्ञान विशेषोंका निरुक्तिसे अर्थका परिचय यह ६वां सूत्र आज पूर्ण किया जा रहा है। इस सूत्रमें कुछ थोड़ा स्मरण करनेके लिए यह ध्यानमें लायें कि इस सूत्रमें क्या-क्या बात और क्या शिक्षा दी गई है? देखो, सर्वप्रथम यह बतलाया कि मति-श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल इन ज्ञानोंको जो स्वरूप नहीं कहा गया, सूत्रजीमें किसी जगह आया क्या? निमित्त बता दिया, भेद बता दिया, विषय बता दिया। मगर ज्ञानके स्वरूपको कहने वाला एक भी सूत्र भी नहीं है, ऐसा क्यों? ऐसा यों किया कि जो शब्द हैं उन्हीं शब्दोंसे इसका अर्थ क्या ज्ञान हो जाता है? सो ज्ञानका अर्थ बताया ही गया था। माननेका नाम मति, जो प्रथम ही प्रथम ज्ञानमें आये सो मति। और सुनकर जाने सो श्रुत। उसे बताया उपलक्षण। सुनकर जाना विशेष सो श्रुत। और देखकर जानकर ज्ञान बढ़ाया सो श्रुत। ५ इन्द्रिय और मनसे ज्ञान करके जो और विशेष ज्ञान किया गया सो श्रुत। और म्यादपूर्वक प्रत्यक्षसे जाना गया सो अवधि। अवधिज्ञान नीचेकी बातको ज्यादा जानता है, यह अवधिज्ञानकी खास विशेषता है, इसी कारण इसका नाम अवधि पड़ा। मनःपर्यय ज्ञान, दूसरेके मनकी पर्यायको जान लेना, मायने उसमें क्या बात सोची जा रही है उस पदार्थको जान लेना सो मनःपर्यय। और एक समभाव मात्र सिर्फ प्योर ज्ञान ही ज्ञान रहे, जो कि अपनी कला के कारण सारे लोकालोक त्रिकालको जान जाये वह केवलज्ञान है। तो सर्व निरुक्तियोंसे प्रथम इनके लक्षणका वर्णन किया।

ज्ञानसामान्यका ज्ञान विशेषोंमें अन्वय तथा सामान्य विशेषकी एकत्र अविरोद्धता इस सूत्रकी रचनामें जाहिर होता है कि ज्ञानका अन्वय सबमें करना। कहीं यह न समझना कि ५ ज्ञानोंका समूह मिलकर ज्ञान कहलायेगा। मतिज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। अवधिज्ञान भी ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान भी ज्ञान है और केवल ज्ञान भी ज्ञान है। ये ५ पर्यायें हैं भिन्न-भिन्न समयों में, अपने समयमें एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र पर्याय है। तो ज्ञान ये पाँचों ही अपने आपमें सम्यक्तत्वको लिए हुए हैं। यह सब बात सुनकर एक सामान्य विशेषकी याद आ जाती है कि ज्ञान तो सामान्य है जो इन पाँचोंके साथ लगा है। मति ज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। जो इन पाँचोंके साथ लगा वह ज्ञान तो है सामान्य और ये ५ हैं विशेष। तो सामान्य और विशेष तो जुदी-जुदी बात हैं। ये लग कैसे गए एक जगह? तो उसका उत्तर दिया है कि सामान्य जुदा नहीं, विशेष जुदा नहीं, किन्तु बात एक है। उसे सामान्य रूपसे देखें तो सामान्य मिलेगा, ज्ञानको विशेष रूपसे देखें तो विशेष मिलेगा ज्ञान में। पदार्थमें सामान्य और विशेष अविरोद्ध रूपमें शाश्वत रहा करते हैं और देखो सामान्य मायने स्वभाव और विशेष मायने पर्याय। सिद्ध भगवान हो गए, मगर वहाँ भी स्वभाव और पर्याय दो तथ्य हैं कि नहीं? अवश्य हैं। तो कहीं भी हो, किसी भी जगह हो, कुछ भी हो जाये, सिद्ध हो जाये, सामान्यविशेषात्मकताको पदार्थ छोड़ नहीं सकता। यह कितनी एक प्राकृतिक बात है कि वह विशेषको गौण कर दे और सामान्यको मुख्य करे और उसमें अपना अनुभव बनाये, ऐसे समयमें भी पर्याय छूटा नहीं, पर उसका उपयोग विशेष नहीं है, सामान्य है अथवा मात्र सामान्य नहीं, सामान्यविशेषात्मक आत्मतत्त्वका सामान्यतया अवगम हो रहा है। तो निर्णय करें तो

निष्पक्ष निर्णय करें, प्रमाणसे निर्णय करें प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है और वे दोनों तत्त्व पदार्थमें अविरोध रूपसे रहते हैं।

सूत्रमें दोनों पदोंका अवधारण तथा मति-श्रुतमें विशेषताका कथन सूत्रमें यह दीख रहा कि यहाँ पद दो हैं और दोनों पदोंमें एव लगेगा याने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ही ज्ञान है। यह ही लो, इसके मायने यह ही ज्ञान है कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ज्ञान नहीं, क्योंकि उनके द्वारा तत्त्वोंका रत्नत्रयका बोध नहीं होता। अब दूसरी जगह एव लगायें तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं है। लो ज्ञानकी अचेतनताकी आरेका रखके आजके प्रसंगमें शब्दकाम आ गया। इस शंकामें कि जो आजकी जा रही है। सांख्य मान रहे थे कि ज्ञान प्रकृति धर्म है, चेतनका नहीं है। सो यहाँ स्पष्ट हो गया कि ये अज्ञान नहीं, वह अचेतनका धर्म नहीं है। तो दोनों ओरसे एवकार लगानेकी बात कही। फिर यह बात बतलायी कि मतिज्ञान कह तो दिया, पर मतिके कहनेसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये सब साथ लगे समझना कि यह सब मतिज्ञान है। स्मृति आदिक ज्ञान भी प्रमाण है और मतिज्ञानके ही अनर्थान्तर है। देखो संक्षेपमें बात चल रही है जो १३ दिन प्रवचन चला इस सूत्रपर उसकी बात संक्षेपमें उपसंहारात्मक कथन है। आकुलता न करें। जो सुना है उसका एक सामान्य दिग्दर्शन कराया जा रहा है, फिर बताया गया कि मति और श्रुत इनको एक न समझना। शंकाकार चाहता था कि ज्ञानके चार नाम रह जायें, मति, श्रुत मेंसे एक कह दें, बाकी और तीन कह दें, उनको कहा गया कि मति और श्रुतमें भेद है, और जिन बातोंसे मति, श्रुतमें शंकाकार एकत्व सिद्ध करना चाहता था उन्हीं बातोंसे मति और श्रुतमें भेद सिद्ध होता है। जैसे मति श्रुत सहचर है, साथ रहते हैं, इसीलिए तो नाना हैं आदिक हेतुवोंसे मति श्रुतका नानापन सिद्ध किया गया और विषय देखें तो मतिका विषय तो थोड़ा है और श्रुतका विषय केवलज्ञान बराबर है। फर्क इतना है कि केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष जानता और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता। देखो एक निगाहमें डाल लो। जगतमें जहाँ जो चीज पड़ी वह सब पुद्गल है। बोलो तुमने जगतकी सारी चीजोंको जान लिया कि नहीं? जान तो लिया। अब प्रयोजन इसका कुछ नहीं, व्यग्रता कुछ नहीं कि चलो जाकर देखें तो सही और अपनेकाममें लें। एक बार हम अबसे करीब ३० साल पहले यात्रामें गए जैनब्रदी तो गुरुजीने कहा कि देखो मैसूरके पास कृष्णसागर है उसे जरूर देख आना। गुरुजीका यह भाव था कि इनके मनमें यह न रहे कि हमने देख नहीं पाया, पर हम सोच रहे थे कि उसे क्या देखना, वहाँ बस ईंट-पत्थर होंगे, पानी होगा, पिण्ड होगा, पृथ्वी होगी, बिजली जलती होगी, सब पौद्गलिक चीजें होंगी, उन सबको हमने यों ही जान लिया। जब कुछ प्रयोजन नहीं तो उनको अलग-अलग जाननेकी ज्या जरूरत? श्रुतज्ञानका बहुत बड़ा विषय है।

ज्ञानकी स्वसंवेदिता, चेतनता और ज्ञानप्रकर्षकी उपादेयता इस प्रसंगमें एक शंका आयी मीमांसकोंकी ओरसे कि जिस ज्ञानसे जानते हैं वह ज्ञान अपनेको नहीं जान पाता, आत्माको तो जान जाता है, पर खुदको नहीं जानता। इस विषयमें एक-दो दिन पहलेकाफी वर्णन हो चुका है। किसीका

भी ज्ञान अज्ञात होकर पदार्थको नहीं जाना जा सकता है, जैसे कि कोई भी रोशनी खुद बिना प्रकाशित हुए दूसरे पदार्थको प्रकाशित नहीं करा सकती। ज्ञान खुद जाना जाता है जैसे कि आत्मा समझा जाना उसी प्रकार ज्ञान भी स्पष्ट रहता है। फिर वर्णन आयेगा कि ज्ञान अचेतन है यह आज ही वर्णन चल रहा और प्रतीतिसे देखें, युक्तिसे देखें, अनुभवसे देखें, ज्ञान चेतनात्मक है। इस प्रकार इस सूत्रमें जो ५ ज्ञानविशेषोंका वर्णन किया गया वह सब सम्यग्ज्ञान है। अब ज्ञानकी बात देखें तो जघन्य ज्ञान तो है उस निगोदिया जीव के, जो बहुतकालसे निगोदी बन रहा और मरकर किसी दूसरी जगह पैदा होता है निगोदमें ही और उसको मोड़ लेकर जाना है तो पहले मोड़में जब वह है तो वहाँ उसके जघन्य ज्ञान है। बाकी तो सबके उससे अधिक-अधिक ज्ञान है। और यह ज्ञान बढ़-बढ़कर केवलज्ञानकी प्रकर्षताको प्राप्त कर लेता है। तो इस सूत्रके अन्तमें केवलज्ञानकी बात कही। उससे यह भाव लें कि केवलज्ञान ही हमारे लिए एक अन्तिम चीज है। वह प्राप्त हो तो सर्व संकट इसके दूर हों। इस सूत्रमें प्रमाणके विशेषणका सामान्य और विशेष रूपमें निर्देश करके अब उन ज्ञान विशेषोंमें प्रमाणत्वका समर्थन करते हैं

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन पंचम भाग समाप्त ॥